मुक्तिबोध साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ

दूधनाथ सिंह

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद कोलकाता

ISBN : 978-81-267-2534-2

मूल्य : ₹ 350

© दूधनाथ सिंह

पहला संस्करण : 2013

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001
36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700 017

वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com
ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MUKTIBODH SAHITYA MEIN NAYI PRAVRITTIYAN
by Dudhnath Singh

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश की, फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनरुप्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

गजानन माधव मुक्तिबोध

मुक्तिबोध मूलतः मराठी-भाषी थे। उनका जन्म श्योपुर, मुरैना (तत्कालीन ग्वालियर राज्य) में सन् 1917 में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत अस्त-व्यस्त, अपर्याप्त रही, लेकिन उनका स्वाध्याय बहुत ज़बर्दस्त था। उनका बचपन मालवा में बीता। मुख्यतः वे उज्जैन, इन्दौर, बड़नगर, शुजालपुर, बनारस, इलाहाबाद, जबलपुर, नागपुर और राजनांदगाँव में रहे। रोज़ी-रोटी की खोज में वे लगातार भटकते रहे। ग़रीबी और तंगहाली उनकी जीवन-साथी रही। ब्राह्मण होते हुए भी 20 वर्ष की अल्पायु में परिवार के सारे विरोध के बावजूद उन्होंने प्रेम-विवाह किया।

मुक्तिबोध ने सन् 1941 में इन्दौर में कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की और अपने नागपुर के दिनों तक पार्टी में बने रहे। उनका सारा जीवन एक उत्तप्त यातनागृह की तरह बीता, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने अपना लेखन कभी नहीं बन्द किया। उनके नागपुर का प्रवास (1949-59) उनके लेखन का सबसे उत्तेजक और उर्वर समय है। वहाँ से 'नया-ख़ून' नामक एक पत्रिका का सम्पादन भी उन्होंने किया, जो हिन्दी-साहित्य की अपने ढंग की एक अनूठी पत्रिका थी। कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता के कारण भारत सरकार के गुप्तचर लगातार उनके पीछे पड़े रहे। इस बात को लेकर वे थोड़े 'सिज़ोफ्रेनिक' भी हो गए थे। उन्हें हमेशा लगता रहा कि कोई उनका पीछा कर रहा है। इसकी छाया उनके सारे लेखन में है। हिन्दी-साहित्य का जो ठाट है और जो उसकी परम्परा है, उसमें मुक्तिबोध का लेखन कहीं नहीं अँटता। वे एक बिलकुल नए किस्म के अनोखे कलाकार हैं। अपनी इस चित्र-विचित्रता के कारण उनकी रचनाएँ उनके जीवन-काल में लगभग नहीं के बराबर प्रकाशित हुईं। वे वस्तु और शिल्प के एक बिलकुल नए आविष्कारक हैं। वे सिर्फ़ कवि ही नहीं, अपने समय के सबसे बड़े आलोचक भी हैं। रचना-प्रक्रिया (Creative Process) को लेकर उन्होंने 'तीसरा क्षण' नाम से एक नया

सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जो समस्त भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी आलोचना सिद्धान्तों के लिए एक चुनौती है। उनकी 'एक साहित्यिक की डायरी' प्लेटो के 'रिपब्लिक' और 'अपॉलोजी' की वैचारिक संवाद-कला की याद दिलाती है, और उनका पत्र-संग्रह 'Phaedo' का स्मरण दिलाता है, जिसमें अपने आत्म-मरण के रूप में वे स्वयं सुकरात की तरह हैं। प्लेटो ने जो कहा था कि 'The Poet is a winged and holy creature' उसके वे साक्षात् उदाहरण हैं, और साहित्य से उनका निर्वासन राज्य के द्वारा भले न हुआ हो, उनका आत्म-निर्वासन और एकान्तीकरण तो हुआ ही। वे एक कविता में कहते हैं :

'मरना होगा,
मरते रहने का करते रहना होगा
प्रयास।'

मुक्तिबोध का लेखन-संघर्ष और वैचारिक-संघर्ष कई स्तरों पर है। दक्षिणपन्थियों और परम्परावादियों से एक ओर, कठमुल्ला मार्क्सवादियों से दूसरी ओर, अपने लाभ-लोभ के लिए ख़ेमा बदल लेनेवाले वामपन्थियों से तीसरी ओर, और अन्ततः स्वयं अपनी कला-साधना के संशयों और आस्थाओं से चौथी ओर।

उनके लिए जो Personal है वह Political नहीं, बल्कि जो Political है वही Personal भी है।

'भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला' के अधिकारी-जनों का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कार्य में मेरी हर सम्भव सहायता की।

इलाहाबाद

–दूधनाथ सिंह

अनुक्रम

गजानन माधव मुक्तिबोध 5

प्रारम्भिक कविताएँ 11

तार सप्तक 15

प्रेम कविताएँ 28

ज़माने का चेहरा 50

तिमिर में समय झरता है 66

पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? 83

उन्हें युद्ध की ही करने दो बात 99

'अँधेरे में' 107

ब्रह्मराक्षस की तीसरी पीढ़ी 119

साँवली हवाओं में काल टहलता है 130

चम्बल की घाटियाँ 138

आत्मचित्र 143

मुक्तिबोध साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ

प्रारम्भिक कविताएँ

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक काव्य-रचना पर छायावादी कवियों की शैली, भाषा और कथ्य की अनुगूँज साफ़ दिखाई देती है। मुक्तिबोध ने सन् 1935 ई. के आसपास कविता लिखनी शुरू की थी। सन् '30 से '40 तक का यह दशक छायावाद का उत्कर्ष काल है, हालाँकि इसी दौर के मध्य में ही प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत भी हुई जिसने हिन्दी कविता के स्वर और वस्तु-तत्त्व को बदल भी दिया। ख़ासकर पन्त ने अति उत्साह में अपने को लगभग पूरी तरह बदल लिया। 'युगान्त' और 'ग्राम्या' की कविताएँ 'पल्लव' और 'गुंजन' की कविताओं से बिलकुल अलग हैं। भाषा के प्रति जो अद्‌भुत सजगता पन्त में है, वह तो 'युगान्त' और 'ग्राम्या' में दिखती है लेकिन कवि का वस्तु-चित्त एकदम बदला हुआ है। इस तरह का अचानक बदलाव निराला में नहीं दिखाई देता और महादेवी तो उससे बिलकुल अछूती हैं। 'कामायनी' के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद प्रसाद जी का देहावसान हो गया। इन सारी स्थितियों के बीच मुक्तिबोध ने कविताएँ लिखनी शुरू कीं। छायावाद का उत्कर्ष मुख्यतः उत्तर प्रदेश के तीन शहरों में हुआ–इलाहाबाद, बनारस और थोड़ा-बहुत लखनऊ। मुक्तिबोध ने अपनी काव्य-रचना इन तीनों केन्द्रों से दूर उज्जैन में बैठकर शुरू किया। प्रो. कान्तिकुमार जैन ने अपनी पुस्तक 'छायावाद की मैदानी और पहाड़ी शैलियाँ' में इस बात की ओर इंगित किया है कि दरअसल उत्तर प्रदेश के तीनों केन्द्रों के रूप ग्रहण करनेवाले छायावाद से अलग मध्य प्रदेश के दूर-दराज, ऊबड़-खाबड़, चट्टानी स्याह पर्वत शृंखलाओं और मालवा तथा नर्मदा के पथरीले कगारों के आसपास इस छायावादी काव्य-रचना का एक दूसरा रूप-रंग अपनी छटा बिखेर रहा था। कान्तिकुमार जैन छायावाद की इस शैली को 'पहाड़ी शैली' कहते हैं। मुक्तिबोध रचनावली के सम्पादक श्री (स्व.) नेमिचन्द्र जैन का मानना है कि

'मुक्तिबोध के उस दौर (प्रारम्भिक दौर) की कविताओं पर माखनलाल चतुर्वेदी की शैली और संवेदना की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।' यह सच होते हुए भी अधूरा सच है। अगर रचनावली के दूसरे संस्करण को ध्यान से देखें तो हम पाते हैं कि मुक्तिबोध की इन प्रारम्भिक कविताओं के पूरे 'टोन' पर तथाकथित 'मैदानी शैली' के कवियों–पन्त, निराला और महादेवी की छाप स्पष्ट है। जैसे कि 'जाग्रत् असफलता', 'तुम और मैं', 'वेदना और कल्पना' इत्यादि कविताओं के उदाहरण ले सकते हैं। 'तुम और मैं' कविता तो निराला और महादेवी की कविताओं को आत्मगत करने के प्रयास में कुछ नए प्रतीकों और उपमाओं के सृजन से बनी एक कविता है :

मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद
प्रेम-पारावार पीड़ा, तू सुनहली याद
तैल तू तो दीप हूँ मैं, सजग मेरे प्राण
रजनि में जीवन-चिता औ' प्रात में निर्वाण

दीपक की इस कल्पना-उद्भावना में महादेवी की याद आनी स्वाभाविक है। हालाँकि जो इस कविता की ऊपर उद्धृत अन्तिम पंक्ति है उसमें कवि ने कुछ विशिष्ट और मौलिक कथन का प्रयास किया है–'रजनि में जीवन-चिता', दीये के लिए मुक्तिबोध की यह एक भावुक खोज है–यह प्रतीक 'जीवन-चिता'। मुझे लगता है कि इस प्रतीक के पीछे निराला या महादेवी से कुछ अलग कहने का प्रयास है। लेकिन यह भी सम्भव है कि इसमें कवि के प्रारम्भिक जीवन-संघर्षों की उदासी और अवसाद भी व्यक्त करने का प्रयास हो। 'प्रात में निर्वाण' तो बिलकुल महादेवी की छाया से निकली हुई उपमा है। इसी तरह 'जाग्रत् असफलता' में 'मेरा क्रन्दन देव' जैसे सम्बोधन भी महादेवी की याद दिलाते हैं। 'अनन्त' और 'चिर पतझर' जैसे पद अनायास हमें छायावादी भाषिक पदों की ओर ले जाते हैं। यह सच है कि मुक्तिबोध की ये प्रारम्भिक कविताएँ माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पादन में निकलनेवाली पत्रिका 'कर्मवीर' या दूसरी पत्रिका 'वाणी' में छपीं। दरअसल मुक्तिबोध की इन प्रारम्भिक कविताओं का जो छन्द-विन्यास है, लम्बी पंक्तियों का जो वर्ण-विन्यास है, उस पर माखनलाल जी का प्रभाव स्पष्ट है। और सच पूछें तो स्वयं माखनलाल जी ने छायावादी वर्ण-विन्यास के भीतर रहते हुए अपनी एक अलग शैली की पहचान विकसित करने की कोशिश की। उनकी भाषिक

संरचना में जो एक प्रसार-तत्त्व है, वही उनकी अलग पहचान बनाता है। मुक्तिबोध उनके इसी प्रसार-तत्त्व से अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रभावित दिखते हैं।

कोई भी कवि या रचनाकार अचानक मौलिक नहीं हो जाता। अपने पूर्ववर्तियों की छाया में ही वह अपना पहला और शुरुआती अभ्यास करता है। मुक्तिबोध की भी सन् 1935 से '40 तक की बिलकुल प्रारम्भिक कविताएँ इसी अभ्यास-काल की उपज हैं जहाँ घूम-फिरकर भंगिमाएँ और वस्तु-तत्त्व अपने आप उसी ओर चले जाते हैं जो उनके पूर्ववर्तियों का तौर-तरीका है। आश्चर्यजनक रूप से रचनावली के इस दूसरे संस्करण में उनके इस प्रारम्भिक दौर में प्रेम की बहुत सारी छोटी-छोटी कविताएँ हैं। इस ओर मुक्तिबोध के अध्येताओं का ध्यान अभी नहीं गया। लोग यही मानते रहे और अभी भी मान रहे हैं कि मुक्तिबोध प्रखर चिन्तन और विचारधारा (मार्क्सवादी) के कवि हैं। इस बात पर अधिक बल देने के कारण ही मुक्तिबोध की कविताओं में छिपी-दुरी दूसरी अन्तर्धाराओं की व्याख्या नहीं हो पाई है। इन प्रेम कविताओं का अपना एक रस है। इसमें कवि के बहुत-सारे अभाव और बहुत सारी मानवीय इच्छाओं के दर्शन हमें होते हैं। कोई कह सकता है कि मुक्तिबोध के व्यक्तित्व की विराटता का घेरा यहाँ कुछ सँकरा होता हुआ नज़र आता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि इन कविताओं में मुक्तिबोध का एक निजी, नरम और संकोची चेहरा पाठकों को ज़्यादा आत्मीय लगता है। इन आत्मीय क्षणों की अभिव्यक्तियों से होते हुए ही मुक्तिबोध 'मालव-निर्झर की झर-झर कंचन रेखा' में दो प्रेमियों की मैत्री जैसे प्रेम के अत्याधुनिक विचार तक पहुँचते हैं। इन प्रेम कविताओं में एक युवा कवि के सघन उत्ताप, प्रेमोच्छ्वास की अभिव्यक्तियाँ प्रमुख हैं :

जब तुम मिल न सकीं इतने दिन
तो वह रात तुम्हारी बनकर
आसमान पर छा जाती थी
औ' अँधियाले में तुम उठकर
इसी ओर आतीं पद गिन-गिन
जब तुम मिल न सकीं इतने दिन।

वहीं अचानक तुम्हें देखकर
आलिंगन में बाँध लिया था
चुम्बन का अधिकार समझकर
अधर-कपोलों पर बरसा था
मेरे रुद्ध स्नेह का सागर
वहीं अचानक तुम्हें देखकर।

इस काव्य-सम्पदा पर हम अलग से विचार करेंगे।

●

तार सप्तक

'तार सप्तक' के अपने पहले वक्तव्य में मुक्तिबोध 'सौन्दर्य' को ही अपने काव्य का विषय मानते हैं। निश्चय ही यह 'सौन्दर्य' काव्य-वस्तु और भाषिक–दोनों के लिए है। ऐसा नहीं भी हो सकता। उनके इस कथन में 'सौन्दर्य' की अवधारणा उन्होंने, शायद, थोड़े सीमित अर्थ में ही की है। क्योंकि आगे चलकर तुरन्त वे 'रमाशंकर शुक्ल स्कूल' (माखनलाल स्कूल की ही निकली हुई एक शाखा) की चर्चा करते हैं। मुक्तिबोध इस 'सौन्दर्य' को शायद 'विरह-जन्य करुणा के जीवन-दर्शन' तक ही सीमित रखते हैं। उसी वक्तव्य में आगे मुक्तिबोध कहते हैं, 'इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्मचेतना थी।'...इस वक्तव्य-अंश को ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले ऊपर जब मुक्तिबोध 'सौन्दर्य' को ही अपने काव्य का विषय मानते हैं तो उनका आशय 'पुरानी उलझन भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा' ही थी। जब वे 'रमाशंकर शुक्ल स्कूल' या 'माखनलाल स्कूल' का ज़िक्र करते हैं तो उनका स्पष्ट आशय है कि ये 'स्कूल' (या स्वयं सम्पूर्ण छायावादी स्कूल) और इनकी अभिव्यंजना शैली 'उलझन भरी' और 'अमूर्त' थी। मित्रों का सहयोग इन्दौर में किस प्रकार का रहा होगा, वक्तव्य में इसका संकेत है। मुक्तिबोध कहना चाहते हैं कि इन 'स्कूलों' के प्रभाव से मुक्त होकर ही वे 'अपने आन्तरिक क्षेत्र' में प्रविष्ट हुए। इस 'आन्तरिक क्षेत्र' का क्या अर्थ है? कवि का निजत्व। मौलिकता के क्षेत्र में उसका प्रवेश, जहाँ उनकी कविता सिर्फ़ और सिर्फ़ उनकी लगे, किसी 'स्कूल' की छाया से ग्रस्त नहीं। इसी को मुक्तिबोध अपनी 'प्रथम आत्म चेतना' कहते हैं। इसी को वे एक 'नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र' कहते हैं। 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण वाले अपने वक्तव्य में अज्ञेय ने जो कहा है कि 'कवि का युग-सम्बन्ध सदा के लिए बदल गया था', उसका अर्थ

यही है कि वह जो छायावादी उलझन भरी अमूर्त अभिव्यक्ति की परम्परा थी, जो युग था, उससे 'तार सप्तक' के कवियों का सम्बन्ध सदा के लिए बदल गया था। इसी सत्य को अज्ञेय आकाशवाणी महानिदेशालय से प्रकाशित अपने पुस्तकाकार साक्षात्कार में 'तार सप्तक' में संग्रहीत कवियों के बारे में एक जगह कहते हैं, 'इसलिए नहीं कि वे (संग्रहीत कविगण) नए हैं, इसलिए कि वे नए ढंग की कविता लिख रहे हैं।' यानी 'तार सप्तक' में एकत्र कवियों के प्रकाशन का आधार उनका 'युवा' होना नहीं, बल्कि 'नए ढंग की कविता लिखना' था। 'युवा' होना और 'नए ढंग की कविता' लिखने में फ़र्क़ है। अज्ञेय उसी को रेखांकित करते हुए 'तार सप्तक' के प्रकाशन के औचित्य पर बात करते हैं। हालाँकि इसमें एकत्र कवियों के किसी एक 'स्कूल' से सम्बद्ध होने को अज्ञेय इनकार करते हैं लेक़िन हम आज इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि जिस 'प्रयोग' को उन्होंने इन सभी कवियों की विशिष्टता मानी या बतलाई थी वह 'प्रयोग' ही आगे चलकर एक 'स्कूल' में बदल गया। मुक्तिबोध की काव्य-प्रगति में भी उस 'प्रयोग' का स्पर्श अन्त तक गया नहीं। इस नए 'स्कूल' ने हिन्दी कविता के मुख्य स्वर को ही बदल दिया। गीत और प्रगीत और राष्ट्रप्रेम (बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और दिनकर)–जिन तत्त्वों से उत्तरछायावादी कवियों ने कविता को आगे ले जाना चाहा, अचानक सन् 1943 में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ उनका महत्त्व क्षीण हो गया और 'तार सप्तक' के नए स्वर ने हिन्दी कविता को अभिभूत और आत्मसात् कर लिया। आगे 'नई कविता' के नाम से जानी जानेवाली धारा 'तार सप्तक स्कूल' का ही अगला विकास है और थोड़ी-बहुत व्यक्तिगत विशिष्टताओं और काव्य-वस्तु की विभिन्नताओं के बावजूद आज तक की हिन्दी कविता उसी 'तार सप्तक स्कूल' में समाहित है। जब श्री विजय देव नारायण साही ने अपने कविता-संग्रह के समर्पण में अज्ञेय को हिन्दी कविता को फिर से 'सम्भव बनानेवाला' कहा तो बात तो सही है। लोग और आलोचक उसके बाद की कविता को 'प्रयोग' से अलगाने के लिए कितने तरह के उद्यम करते रहते हैं लेकिन हम जानते हैं कि आज भी 'प्रयोग' ही कविता की मुख्य सौन्दर्य-दृष्टि है।

मुक्तिबोध अपने वक्तव्य में 'प्रयोग' शब्द का उल्लेख नहीं करते, 'मानसिक द्वन्द्व' का उल्लेख करते हैं। यह 'द्वन्द्व' कवि के मन में एक 'गुप्त अशान्ति' का सृजन करता रहता है। आज जब हम मुक्तिबोध के सम्पूर्ण सृजन को देखते हैं तो हम पाते हैं कि यह 'गुप्त अशान्ति' का तत्त्व ही उनकी सम्पूर्ण सर्जना के मूल

में है। 'तार सप्तक' काल से लेकर मृत्यु के पहले तक (1943-1963) यह 'गुप्त अशान्ति' का तत्त्व ही उनकी रचनाओं को समझने की ओर उनकी तह तक पहुँचने की कुंजी है। इस तरह अपने वक्तव्य में वे अपनी कला-रचना के दोनों मुख्य तत्त्वों का उल्लेख शुरू में ही कर देते हैं–'गुप्त अशान्ति' और 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति'। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर हम उनकी काव्य-कला और अन्य रचनाओं को परख सकते हैं। मुक्तिबोध ऐसा करके अचानक ही हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक सर्वथा नए काव्य-शास्त्र का निर्माण करते दीखते हैं।

मुक्तिबोध के कवि रूप के बारे में अज्ञेय ने आगे चलकर एक बड़ी विचित्र बात कही है : 'अब जब आपने मुक्तिबोध की और अनगढ़पन की बात कही, तो मैं कहूँ कि मुक्तिबोध में यह अनगढ़पन इतना बना न रह गया होता अगर वास्तव में उनकी जो बेचैनी थी वह कविकर्म को लेकर हुई होती। या कि कविता को लेकर हुई होती। उनमें बड़ा एक ईमानदार सोच तो है, उनकी चिन्ताएँ बड़ी खरी चिन्ताएँ हैं, लेकिन शायद वह कविता के बारे में नहीं हैं। वह ज़्यादा कवि और समाज के बारे में हो जाती हैं।...और मैं यह कहूँ कि अन्त तक वह एक बहुत ही खरे और तेजस्वी चिन्तक तो रहे हैं और उनमें बराबर सही ढंग से सोचने की छटपटाहट भी दीखती है, लेकिन अन्त तक वह समर्थ कवि नहीं बन पाए, उनकी एकाध को छोड़कर कोई भी पूरी कविता नहीं हुई।...बल्कि यह भी कह सकता हूँ कि उनकी जो लगभग पूरी कविताएँ हैं, वे 'तार सप्तक' में आ गई थीं, उसके बाद जो कविताएँ आईं, वे वैसी नहीं हैं।' अज्ञेय का यह वक्तव्य उनके साक्षात्कार 'अज्ञेय अपने बारे में' वाली किताब में है। और यह वक्तव्य भी सन् 1984 में दिया गया है, जबकि 'मुक्तिबोध रचनावली' का प्रकाशन हो चुका था। कह सकते हैं कि यह मुक्तिबोध की कविताई के बारे में एक ग़लत वक्तव्य है। कविता के जो मान अज्ञेय जी तैयार करते हैं उनके आधार पर भी यह कथन अनुचित और अतिरेक का शिकार है। खरा चिन्तन ही और सामाजिक चिन्ता ही मुक्तिबोध को एक 'समर्थ कवि' और हिन्दी कविता के इतिहास में एक अलग तरह का कवि बनाती है। अज्ञेय के वक्तव्य से तो यह अर्थ निकलता है, मानो 'तार सप्तक' की अपनी शुरुआती कविताओं के बाद मुक्तिबोध ने सब कुछ उससे हीनतर लिखा, जबकि सत्य यह है कि अपने अभ्यास काल में (1935-40) से निकलने के बाद मुक्तिबोध जिन कविताओं में कविता के उस स्वनिर्मित 'आन्तरिक क्षेत्र' में प्रवेश करते हैं, उनका उदाहरण 'तार सप्तक' में प्रकाशित उनकी कविताएँ

हैं। 'तार सप्तक' उनकी काव्य-रचना की पहली सीढ़ी है जिसमें वे अपने एक निजी शिल्प, एक निजी भाषिक दायित्व और कथ्य की खोज करते हैं।

'तार सप्तक' में प्रकाशित मुक्तिबोध की सोलह कविताओं में कवि-व्यक्तित्व और उनकी कवित्व-चिन्ता के अलग-अलग रंग प्रस्फुटित होते नज़र आते हैं। इन्हीं छवियों का विकास आगे चलकर उनकी कविताओं में हुआ है। पहली ही कविता 'आत्मा के मित्र मेरे' काव्य-वस्तु की दृष्टि से एक अनोखी सर्जना है। मित्रता का ऐसा मुखर-भावुक और कृतज्ञ आख्यान इसके पहले हिन्दी कविता में कहीं देखने को नहीं मिलता। इस लिहाज से यह कविता मुक्तिबोध की ही नहीं, 'तार सप्तक' में प्रकाशित सभी कवियों की कविताओं पर भारी पड़ती है। तुलसीदास और नरोत्तम दास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने मैत्री को सभी प्रकार के सम्बन्धों के ऊपर तरजीह दी है। तुलसीदास का यह कथन कि जो अपने मित्र के दुख से दुखी नहीं होते, उनका मुँह देखना भी पाप है, एक नीति-कथन की तरह लगता है, जबकि सुदामा के प्रति कृष्ण का प्रेम एक पवित्र भावोच्छ्वास है जिसका हमारे समाज में एक अजब-सा नैतिक मूल्य है। लेकिन मुक्तिबोध का मित्र-मुख, मित्र-अस्तित्व की एक अजीब-सी आध्यात्मिक आभा से प्रकाशित है। कई बार हम यह सोचने को मजबूर होते हैं कि इस मित्र का क्या सचमुच कोई भौतिक अस्तित्व है या यह मुक्तिबोध की निरावरण, पवित्र, भावुक, नरम-नरम लेकिन उत्तेजना के भीतर से रचा हुआ एक अमूर्त कथन है। बुद्ध ने कभी कहा था–'सब्बे संखारा अनिज्जा'। सभी संस्कार अनित्य हैं, साक्षात् दुख ही हैं। संस्कार ही तो सम्बन्धों की सर्जना करते हैं। लेकिन नहीं, मुक्तिबोध तो सभी सांसारिक सम्बन्धों से मैत्री को ऊपर उठाते हुए उसे एक अद्वितीय आत्मिक गौरव प्रदान करते हैं। दरअसल, मैत्री का संस्कार (सम्बन्ध) मुक्तिबोध के लिए सर्वोपरि है। उनके पत्रों को पढ़ते वक्त हमेशा यह लगता है कि मुक्तिबोध के जीवन और उनके रचनात्मक कोलाहल में जो 'इंस्टिंक्ट' उन्हें सबसे अधिक प्रभावित करती रही है वह मैत्री की अटूट आकांक्षा है। फ्रीगंज, उज्जैन से श्री नेमिचन्द्र जैन को लिखे अपने 18-10-42 के पत्र में मुक्तिबोध लिखते हैं :

'As you know, I am a peculiar sort of man, and always in need of one whose feeling beneath his dear advices and intimate criticism creates a glow in me–the glow of a passionate love and passionate immagination, (otherwise) I remain cold and even seemingly indifferent.'

ग़ालिब ने इसी को 'याराने नुक्तदाँ' कहा है।

मुक्तिबोध अपनी कविता में इसी को कुछ यों, बल्कि इससे भी ऊपर उठाकर कहते हैं :

वह मित्र का मुख
ज्यों अतल आत्मा हमारी बन गई साक्षात् निज सुख।
वह मधुरतम-हास
जैसे आत्म-परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर
जो सदा ही मम हृदय-अन्तर्गत छिपे थे
वे सभी आलोक खुलते जिस-सुमुख पर!
वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्र पर एकत्र सौरभ।

'आत्मीयता के केन्द्र' पर एकत्र इस सौरभ को मुक्तिबोध अपनी बाद की कविताओं में भी कई तरह से परिभाषित करते हैं। स्वयं इस कविता में 'आत्मा के इस मित्र' की अनेक उच्छ्वासों में अनेक तरह की उद्भासित, चमकती हुई कल्पनाओं से विभूषित करते हैं। वह 'मधुरतम हास' ही नहीं, 'आत्म-परिचय' भी है, वह 'अन्तर के अतल हिल्लोल का जो बाह्य सौन्दर्य' है, वह भी है। और अन्ततः उसे सभी मानवीय सम्बन्धों से उच्चतर घोषित करते हैं :

माता-पिता-पत्नी-सुहृद पीछे रहे हैं छूट
उन सबके अकेले अग्र में जो चल रहा है
ज्वलत् तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है
मेरे हृदय का चित्र है।

मैत्री ही सर्वोत्तम मानव-सम्बन्ध है। बुद्ध ने अपने अन्तिम दिनों में यह घोषणा की थी कि हमारे बाद भी एक 'मैत्रेय' आएगा। आत्मा का यह मित्र वही मैत्रेय है जो अनेक रूपों में हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध और उन्नत करता है। इसी की मुक्तिबोध अपनी एक दूसरी कविता 'तुम्हारा पत्र आया' में कुछ अजब ढंग से प्रस्तुत करते हैं :

तुम्हारे मात्र होने से
सभी सम्बन्ध हटकर दूर
केवल एक पृथ्वी-पुत्र का नाता...

मैत्री का यह सम्बन्ध कवि को (और प्रकारान्तर से सभी मनुष्यों को) जन-भ्रातृत्व के उच्चतम सम्बन्ध तक ले जाता है। मनुष्य-जीवन की इससे बड़ी उपलब्धि और कुछ नहीं हो सकती। 'तार सप्तक' की एक दूसरी कविता 'दूर तारा' में भी तारे के एक अन्य बिम्ब से 'प्रत्येक मनु-पुत्र पर विश्वास करने' की बात कवि ने कही है।

'तार सप्तक' में प्रकाशित मुक्तिबोध की ये 16 कविताएँ उनके काव्य-उत्कर्ष की अन्तिम परिणति नहीं हैं, जैसा कि अज्ञेय मानते हैं। दरअसल ये कविताएँ अपने विभिन्न रंगों में उनके काव्य-व्यक्तित्व के अगले विकास का प्रथम प्रस्थान हैं। इन कविताओं में मुक्तिबोध अपने कवि को तरह-तरह से टटोलते नज़र आते हैं। अपना निजी जीवन, अपनी कमियाँ, कमज़ोरियाँ, आत्मस्वीकार, आत्मविच्छेद, जन-समाज, राजनीतिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ, उनके प्रति अपनी तेजस्वी और बेलाग प्रतिक्रियाएँ, अपने दो-टूक निर्णय...ये सारी बातें जो उनकी अगली कविताओं में प्रस्फुटित और विकसित हुई हैं, उनके उत्स उनकी इन प्रारम्भिक (और कुछ हद तक नए कवित्व से परिपक्व और परिपूर्ण) कविताओं में हमें दीखने लगती हैं। 'मेरे अन्तर' कविता का अन्त भी उसी निष्कर्ष-बिन्दु पर होता है जिस पर उनकी अधिकांश बाद की और 'तार सप्तक' की कविताओं का होता है :

वह जन है जिसके उच्च-भाल पर
विश्व-भार, औ' अन्तर में
निःसीम प्यार!

'मृत्यु और कवि' या 'नूतन अहं', 'नाश देवता', 'सृजन क्षण' (मैं स्वागत करता हूँ सबका), 'अन्तर्दशन', 'आत्म-संवाद' या 'व्यक्तित्व के खँडहर' इन सभी कविताओं में उनकी अगली कविताओं के विकासात्मक संकेत हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। मुक्तिबोध के जिस अन्तर-वाह्य कोलाहल का प्रतिबिम्ब उनका सम्पूर्ण कवित्व है, उसकी सबसे सुन्दर और संक्षिप्त परिणति, उसका सबसे सुन्दर भावन मुक्तिबोध की इस छोटी-सी कविता में हुआ है :

मैं उनका ही होता, जिनसे मैंने रूप-भाव पाए हैं
वे मेरे ही हिये बँधे हैं जो मर्यादाएँ लाए हैं।
मेरे शब्द, भाव उनके हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा
मेरा अन्त और अथ मेरा,

ऐसे किन्तु चाव उनके हैं।
मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उनके ओछेपन से गिर-गिर;
उनके छिछलेपन से खुद-खुद
मैं गहरा होता चलता हूँ।

मुक्तिबोध के पूरे व्यक्तित्व और पर का भाव कुछ इस तरह से घुला-मिला है कि उन्हें अलग-अलग देखना लगभग असम्भव है। अपने 'आत्म' से ही वे 'पर' तक पहुँचते हैं। दोनों के विभेद की जो चेतना है, मुक्तिबोध उसे बार-बार भेदते हैं। बीच की दीवार को खंड-खंड करते हैं। इसी प्रयत्न में उनको अपने 'व्यक्तित्व के खँडहर' अक्सर दीखने लगते हैं। अपने इसी क्षत-विक्षत घायल रूप और चेहरे और अन्तर को लेकर वे कविता और कला और चिन्तन के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। अतः मुक्तिबोध के यहाँ सब कुछ उस तरह से करीने से नहीं सजा है जिसकी काव्य-कला के निर्णायक और शास्त्र-प्रशिक्षित विद्वज्जन उम्मीद करते हैं। और बाद की उनकी कविता-यात्रा के लिए अज्ञेय भी उनसे यही उम्मीद लगाए दीखते हैं। दरअसल जिसको अज्ञेय 'प्रखर चिन्तन' कहते हैं वही मुक्तिबोध का शुद्ध और प्रखर कवित्व भी है। उनके चिन्तन की घायल छवि ही उनकी कविता है। इस टूट-फूट और दलित आत्म में सभी अभिव्यक्तियाँ और व्यंजनाएँ और कथ्य इधर-उधर लुढ़के पड़े हैं। उनमें एक विचित्र किस्म की संयोजनहीनता है जो आधुनिक कला का मूल तत्त्व है। जहाँ चीज़ें हैं, गड्डमड्ड विरूप हैं, एक में दूसरी छवि का प्रतिबिम्ब झाँकता है। दरअसल मुक्तिबोध की कविताई का यह असंजोयन ही कला का वह नया सलीका या करीना है जिसकी खोज होनी चाहिए। वहाँ सब कुछ टूटा-फूटा है और उसी में से नई-नई रूप-छवियाँ, नए-नए इशारे झाँकते हैं। वस्तुओं, बातों, इच्छाओं, भावोच्छ्वासों, विचारों-तर्कों का यह असंयोजित सम्मिलन ही उनका नया और आधुनिक काव्य-शास्त्र है।

'तार सप्तक' में मुक्तिबोध की एक बिलकुल दूसरे रंग की कविता छपी है 'पूँजीवादी समाज के प्रति'। यह एक ऐसी कविता है जिसकी झंकृति उनके काव्य-विकास में अन्त तक बनी रही। इसके टुकड़े, इसका वस्तु-तत्त्व बार-बार अनेक रूप धरकर उनकी अगली कविताओं में जगह-जगह प्रवेश पाते रहे। जिसे अज्ञेय उनका प्रखर चिन्तन कहते हैं, उसी का नमूना है यह कविता। एक धमकदार छन्द

और उतनी ही धमकदार शब्दावली में उनका यह काव्यात्मक आक्रोश व्यक्त हुआ है। 'पर' के चित्रण में शोषक वर्गों पर ऐसा पवित्र क्रोध हिन्दी कविता में विरल है। वैचारिक धरातल पर एक नए मुक्तिबोध से हमारा परिचय यहाँ होता है। यह अपने पक्ष की नहीं विपक्ष के विश्लेषण की एक कविता है। सन् '40-'42 में मुक्तिबोध अतिया हाउस, इन्दौर में रहते थे। नेमिचन्द्र जैन को लिखे एक पत्र में वे किन्हीं खांडेकर से मिलने का उल्लेख करते हैं। यह खांडेकर कम्युनिस्ट पार्टी के एक कार्यकर्ता थे। मुक्तिबोध लिखते हैं, 'And I tell you I am romantically attracted towards this new life.' 'न्यू लाइफ़' का इशारा यहाँ 'मार्क्सवाद' की ओर है और 'रोमेंटिकली अट्रैक्टेड' मुक्तिबोध की एक ईमानदार स्वीकृति है। वे तर्क की बहुत बातें करते हैं लेकिन जीवन और समाज के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ हमेशा भावात्मक होती हैं। 'पूँजीवादी समाज के प्रति' कविता उनकी इसी नई दीक्षा–मार्क्सवाद–का प्रतिफलन है। इन्दौर में जो मित्रों की सहायता और सहयोग से 'अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रवेश' की बात अपने वक्तव्य में मुक्तिबोध करते हैं, वह प्रवेश इसी मार्क्सवाद (नया जीवन) की तरफ़ इशारा है। इस तथ्य को मुक्तिबोध अपने वक्तव्य में और स्पष्ट करते हैं : 'क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।' सन् 1942 में उज्जैन में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना में मुक्तिबोध का प्रमुख हाथ था। सन् 1943 में ही मुक्तिबोध ने इन्दौर में फ़ासिस्ट विरोधी लेखक सम्मेलन कराया जिसकी अध्यक्षता के लिए उन्होंने राहुल सांकृत्यायन को आमंत्रित किया था। ये सारे तथ्य मुक्तिबोध के रचनात्मक व्यक्तित्व के नव संस्कार का संकेत करते हैं, जिसे मुक्तिबोध अपने पत्र में 'न्यू लाइफ़' कहते हैं और जिसका प्रतिफलन पूर्वोक्त कविता है।

'रचनावली के प्रथम भाग में सन् 1940 से '48 वाला जो दूसरा खंड है उसमें मुक्तिबोध का काव्य-व्यक्तित्व धीरे-धीरे निजी और मौलिक रूप ग्रहण करता हुआ दिखाई देता है। इसमें उस रंगारंग, परिपक्व अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं जिससे कवि मुक्तिबोध की पहचान बनती है। इनमें 'ये तुम्हारी', 'लाल सलाम', 'जन-जन का चेहरा एक', 'मुक्तिकामी पैरों की मोच की चीख़', 'वी. स्तालिन', 'देख कीर्ति के नितम्ब इठलाते', 'यह दिवस भी क्या दिवस है', 'सत्य के गरबीले अन्याय न सह' इत्यादि कविताओं ने मुक्तिबोध के व्यक्तित्त्व को वह निखार और रंग दिया जो अब तक हिन्दी कविता में दुर्लभ था। अगर देखें

तो प्रगतिशील आन्दोलन को लेकर सुमित्रानन्दन पन्त की जो कवितात्मक प्रतिक्रियाएँ थीं, जो 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में संकलित हैं और जो 'रचनावली' के प्रथम भाग में उपर्युक्त मुक्तिबोध की कविताएँ हैं उनमें सोच और संरचना का गुणात्मक अन्तर है। पन्त समाज के निचले तबकों की तकलीफ़ों और दुर्दशाओं का उस तरह चित्रण नहीं करते जिस विचारात्मक धरातल पर मुक्तिबोध करते हैं। पन्त उन्हें यानी उन निचले तबकों को एक 'कल्चरल एंटिटी' की तरह चित्रित करते हैं। चाहे 'ग्रामश्री' हो अथवा 'वह बुड्ढा', 'वे आँखें', 'कहारों का रुद्र नृत्य', 'मजदूरनी के प्रति' या 'धोबियों का नृत्य'–इस तरह के काव्य विषयों का चित्रण करना वे अपनी प्रगतिशीलता की नई दीक्षा का धर्म मानते हैं। कविता में इनको भी आना चाहिए, यह दृष्टिकोण है। इसके अलावा उनमें निहित जो लोकरंग है, वही उनकी पहचान है–कुछ इस तरह पन्त अपनी इन कविताओं में पेश आते हैं। करुणा और दैन्य या विपन्नता में भी एक उल्लास और सौन्दर्य का चित्रण, यह पन्त का दृष्टिकोण है। वहाँ वर्ग-सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होते और उनके संघर्षों की आहट भी कहीं स्पष्ट नहीं होती। 'नौकाविहार' से 'कहारों का रुद्र नृत्य' तक काव्य-वस्तु का जो परिवर्तन है, वह मात्र काव्य-वस्तु का परिवर्तन है, उस काव्य-वस्तु के प्रति दृष्टिकोण और विचार और भावात्मक प्रतिक्रिया का संघर्ष या परिवर्तन नहीं। जबकि मुक्तिबोध के लिए वह वर्ग-संघर्ष है, समता के आवाहन का एक रण है या अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा की एकता का एक नरम-नरम उद्घोष है। आख़िर 'जन-जन का चेहरा एक' में 'जन-जन' कौन हैं और उनका चेहरा एक-सा क्यों है? क्या रंग-रूप में या नस्लीय बनावट में? या किसी सांस्कृतिक पहचान के रूप में? नहीं, उनकी पहचान उनकी सार्वदेशिक विपन्नता और उनका शोषण है। शोषण के विरुद्ध उनके संघर्षों का इतिहास है, उनकी कतारबद्धता है। आर्थिक धरातल पर और इसीलिए 'आइडेंटिटी' के धरातल पर भी उनके चेहरे एक हैं। उनके चेहरे एक हैं, इसका अर्थ कि उनके कार्य-भार, उनके संघर्ष, उनकी समस्याएँ एक हैं :

चाहे जिस देश प्रान्त पुर का हो
जन-जन का चेहरा एक।
एशिया की, यूरोप की, अमरीका की
गलियों की धूप एक।
कष्ट-दुख सन्ताप की,

चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियों का रूप एक।
जोश में यों ताक़त से बँधी हुई
मुट्ठियों का एक लक्ष्य
...एशिया के, यूरोप के, अमरीका के
भिन्न-भिन्न वास-स्थान
भौगोलिक, ऐतिहासिक बन्धनों के बावजूद
सभी ओर हिन्दुस्तान, सभी ओर हिन्दुस्तान।
दानव दुरात्मा एक
शोषक और ख़ूनी और चोर एक
जन-जन के शीर्ष पर
शोषण का खड्ग अति घोर एक
क्रान्ति का, निर्माण का, विजय का सेहरा एक।

यह वो समझ है जो मुक्तिबोध को मित्रों की कृपा से एक नए 'अन्तर प्रवेश' के रूप में मिली है। इसे व्यक्तित्व का नया संस्कार भी कह सकते हैं। और थोड़ा इस सैद्धान्तिक पक्ष को ध्यान से देखें तो एक अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा की यह कल्पना उस वक्त की 'पार्टी लाइन' भी है, जिसमें से नस्लीय ब्योरों, जातिगत और यहाँ तक कि वर्गगत जटिलताओं को भी अनदेखा किया गया है। कविता भी अच्छी लग सकती है और ये विचार भी अच्छे लग सकते हैं लेकिन सच्चाई तो इतनी सनही और सपाट नहीं है। शोषित जन का यह अन्तर्राष्ट्रीय चेहरा एक होते हुए भी एक नहीं है। यह सोच के धरातल पर, तर्क और बहस के धरातल पर एक सुलझाया हुआ और कवि को दिया हुआ सत्य है। जैविक जटिलताएँ बड़ी घनघोर हैं, चाहे वे ऐतिहासिक हों, भौगोलिक, सांस्कृतिक हों या नस्लीय। 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' का एक ख़्वाब था और उस ख़्वाब की अभिव्यक्ति है मुक्तिबोध की यह कविता। मेरा कहना यह है कि जैसे मनुष्य मात्र एक सांस्कृतिक एंटिटी नहीं है, उसी तरह वह मात्र एक आर्थिक एंटिटी भी नहीं है। दोनों के बीच अनेक प्रकार के वैचारिक और सांस्कारिक घपले हैं जो पन्त और मुक्तिबोध दोनों की निर्णयात्मक वैचारिक स्पष्टताओं को धुँधला करते रहते हैं। सत्य उस धुँधलके के चित्रण में है न कि उस पर किसी स्पष्टता के आरोप में। अपनी अगली कविताओं में मुक्तिबोध बार-बार इस धुँधलके में प्रवेश करते हैं, 'जन-जन का चेहरा एक' की जो स्पष्ट लाइन है और पी.सी. जोशी द्वारा पन्त जी को भारतीय लोकरंग का जो दिया हुआ

विचार हैं, इन दोनों से पृथक् मुक्तिबोध जीवन की उन अन्धकाराच्छन्न जटिलताओं के कवि के रूप में धीरे-धीरे विकसित और प्रख्यात होते हैं। उनके सोच की यह दुर्दशा, यह त्रासदी ही उनके काव्य-पुरुष का मस्तक ऊँचा करती है। इसी सत्य को मुक्तिबोध एक अजीब से धधकते हुए द्वन्द्व और लगभग एक मार्चिंग सांग जैसी लय में 'मुझे पुकारती हुई पुकार' वाली कविता में व्यक्त करते हैं :

विराट झूठ के अनन्त द्वन्द्व-सी
भयावनी अशान्त पीत धुन्ध-सी
सदा अगेय
गोपनीय द्वन्द्व-सी असंग...
...अपुष्प-पत्र वक्र-श्याम, झाड़-झंखड़ों घिरे असंख्य ढूह
भग्न-निश्चयों रुँधे विचार-स्वप्न-भाव के
मुझे दिखे...

लेकिन इसके बावजूद 'पूँजीवादी समाज के प्रति' से मुक्तिबोध का एक जो नया 'अन्तर-प्रवेश', नया संस्कार, नई कविता-चेतना विकसित होती है, वह उनकी काव्य-रचना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जैसा कि मैंने कहा, इस नए संस्कार के टुकड़े तो उनकी हर कविता में रचे-बसे हैं। प्रेम या मातृत्व या आत्म-पुरुष की खोज– चाहे जिस तरह के, जिस भाव-क्षेत्र में उनका कवित्व टहल-घूम रहा हो, उसमें बार-बार एक सकारात्मक सोच, 'निगेशन का निगेशन' मुक्तिबोध ज़रूर लाते हैं। वे कविता की भाव-समृद्धि को, उसके विखंडन को बार-बार संयोजित-पुनर्संयोजित करते चलते हैं। यह संयोजन एक विचित्र-सी धमक के साथ कविता में आता है। कह सकते हैं कि धीरे-धीरे यह संयोजन उनकी कविताई का शिल्प बन जाता है। दूसरे छोर से यह भी कह सकते हैं कि बावजूद चामत्कारिक बिम्ब-मालाओं, अनहोनी उक्तियों और चमकदार रहस्यात्मक, मायावी शिल्प-सन्धानों के यह तत्त्व– सकारात्मक सोच का आवेश–उनकी कविता में एक 'रीतिवाद' भी विकसित करता है। अगर उस रीतिवाद से पाठक परिचित हो जाए तो उनकी कविताओं को समझने की एक कुंजी मिल जाएगी। तब हम जानने लगते हैं कि कविता अपने घुमावदार मायावी चक्करों के बाद कहाँ पहुँचेगी। यह उस तरह तयशुदा तो नहीं होता, फिर भी कवि इस पद्धति के लिए भीतर से अत्यन्त सचेत दिखता है। किसी एक या कई कविताओं पर लगातार वर्षों काट-छाँट और काम करने का जो उनका तरीका है वह दर्शाता है कि कविता की अपूर्णता को लेकर मुक्तिबोध किस तरह चिन्तित

हैं। हर लम्बी कविता एक महाकाव्यात्मक प्रयास है जिसके पन्ने उनकी चेतना की हवा में लगातार फड़फड़ाते रहते हैं। कविताओं पर काम करने का यह जो तॉल्स्तॉयन तरीका है, वह हिन्दी के दूसरे किसी भी कवि में नहीं। तुलसीदास की 'सिद्धि' और मैथिलीशरण गुप्त की 'स्लेट', दोनों मुक्तिबोध के पास नहीं हैं। कथा या कथन की उतनी सपाटता भी उनके यहाँ नहीं है। जैसे उनके समय और उसके बाद के समय का जो जटिल, विखंडित, अन्यायी जीवन है उसमें दो पूर्ववर्ती महाकवियों के दोनों तत्त्व–सिद्धि और स्लेट–मुक्तिबोध के काम के नहीं हैं। अतः वह वर्षों तक अपनी कविताओं की काट-छाँट, छील-छाल में लगे रहते हैं, उसे संयोजन-सन्तुलन में बाँधने के प्रयास में हताहत होते रहते हैं। सतत चलनेवाला यह दिमागी तनाव हिन्दी में दूसरे किसी भी कवि ने नहीं झेला। प्रबन्ध से कविता की मुक्ति के बाद और फिर नए ज़माने की छन्द-मुक्ति के बाद कवियों के लिए एक आसानी हो गई। छोटी-छोटी उक्तियों की छोटी-छोटी कविताएँ–यह जो सारी दुनिया में कविता का शिल्प है, उसमें थोड़ा-बहुत काम करते हुए भी मुक्तिबोध का सरोकार 'कथा विहीन' लम्बी कविताएँ हैं। इन कविताओं का कथा-तत्त्व भी उनका ख़ुद का रचा हुआ है। न वे पुराण-गाथाएँ हैं, न ऐतिहासिक सन्दर्भ। बल्कि उनकी कविताओं की महागाथाएँ उनकी स्वयं की रची हुई हैं। किसी भी कविता का बैक-ग्राउंड कलर भी मुक्तिबोध को ख़ुद तैयार करना पड़ता है। ऐसे में वर्षों तक लगातार चलनेवाला यह रचनात्मक श्रम कितना मारक होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। 'अज्ञेय अपने बारे में' किताब में अज्ञेय जब अपनी कुछ कविताओं को लोक और पाठक और सहृदय की स्मृति में रह जाने की बात करते हैं तो अपनी उन्हीं छोटी कविताओं को महत्त्वपूर्ण मानते हैं–'असाध्य वीणा' या 'आर्फ़ेऊस' को नहीं। दोनों ही लम्बी कविताएँ दो मिथकों पर आधारित हैं–यानी कि उनके पास पहले से ही रचा हुआ एक बैक-ग्राउंड कलर है जिस पर अज्ञेय अपनी इन दोनों कविताओं की चित्र-रचना करते हैं। मुक्तिबोध की किसी कविता में कोई आधार नहीं, सिवा एक 'भूल ग़लती' के, जिसमें शिवाजी जैसे चरित्र का एक हलका-सा ऐतिहासिक आधार है, हालाँकि उस आधार को भी मुक्तिबोध धुँधला और थोड़ा अमूर्त करके शिवाजी की छवि को एक सनातन विद्रोही (rebel) के रूप में चित्रित करते हैं। लेकिन इस एक कविता के अलावा मुक्तिबोध की सारी लम्बी कविताओं के कथा-मिथक भी स्वयं कवि द्वारा रचे हुए हैं। अगर चार्ल्स लैम्ब की शैली में उनके इन कथा-मिथकों को गद्य में रूपान्तरित कर दिया जाए तो नव-मिथकों का

एक अच्छा-ख़ासा कथा-कोश तैयार हो सकता है। अपनी कविताओं पर किए जानेवाले इस श्रम की झुँझलाहट को नेमिचन्द्र जैन को लिखे एक पत्र में कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं; 'कविताएँ सुधारते-सुधारते नाक में दम आ गई है। कैसी विपत्ति मोल ले ली। पर अब तो करना ही पड़ेगा। रास्ता ही वह है। अपनी नकेल को ख़ुद हाथ में लेकर चलना पड़ेगा।...आप विश्वास नहीं करेंगे, एक कविता को दुरुस्त करने के लिए छह घंटे लगते हैं। मैंने कई सुधार भी दी हैं। कई तो सुधारने की प्रक्रिया में परिवर्तित हो गई हैं। पता नहीं कब तक मैं कविताओं को यों सुधारता बैठूँगा।' (पत्र 10-11)। इस सुधार और परिवर्तन में कविताओं का पृष्ठभूमीय रंग भी बार-बार बदलता जाता है, क्योंकि कोई पूर्व आधार नहीं है। जो है, वह भी अपना ही बनाया हुआ और कविता की वैचारिक-भावात्मक संगति बदलने के साथ वह भी घुलता-मिटता-बदलता रहता है। रचना-प्रक्रिया की ऐसी जटिल संस्थिति हिन्दी के किसी अन्य कवि में आदि से अन्त तक देखी नहीं गई। इस रूप में मुक्तिबोध के आगे-पीछे उनकी कोई परम्परा नहीं दीखती। जैसा कि अपने जीवन को वह अकेले-अभिशप्त मानते हैं, उसी तरह रचना में भी हैं।

●

प्रेम कविताएँ

मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा
प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से
जीवन भर के लिए!
मानो कि उस क्षण
अतिशय मृदु किन्हीं बाँहों ने आकर
कस लिया था मुझको...
अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी?

क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?
हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी
जाग गई क्यों कर?

'अँधेरे में' की उपर्युक्त पंक्तियों का यह अर्थ विद्वत्समाज में लिया जाने लगा कि मुक्तिबोध ने जीवन में कभी प्रेम नहीं किया या उन्हें प्रेम नहीं मिला। जबकि माता-पिता की असहमति के बावजूद उन्होंने मात्र 22 साल की उम्र (1939) में शान्ताबाई से प्रेम-विवाह किया। इस तरह के धुआँधार रोमांस की घटनाएँ समाज में आम हैं, जब चढ़ती युवावस्था में प्रेम होता है और वह लगभग अन्धा होता है। इसमें कोई आगा-पीछा नहीं देखता और अक्सर वयस्क और समझदार हो जाने पर अन्ध उत्साह और भावनाओं के तीव्र उफान में किए इस प्रेम और दाम्पत्य के प्रति अधिकांश लोगों में एक उदासी, वितृष्णा और विराग घर कर लेता है। इसकी परिणतियाँ बहुत तरह की होती हैं। एक शरीर और मन को पाने की भरपूर ललक और इस तरह के आवेश के ख़त्म हो जाने के बाद अक्सर स्त्री-पुरुष दोनों को ही लगता है कि जो हुआ वह ठीक नहीं हुआ, या प्रेम करने की उद्दाम लालसा अचानक ही ख़त्म हो गई। अगर स्त्री-पुरुष, दोनों ज़िम्मेदार

हुए, या समाज का भय या लिहाज हुआ, अथवा सन्तान हो गई तो ऐसा प्रेम-रहित, सूना-सूना, विरक्त, उदास, चिड़चिड़ा जीवन चलता या चलाए चलता है। इसमें कलह, अलगाव की भी सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। अधिकांश को लगता है कि हमने ग़लती की या हमें वह सब नहीं मिला, यानी कि प्रेम जो हमें मिलना चाहिए था या जो हमारा उद्देश्य था। निश्चय ही प्रेम या प्रेम की यह अन्धाधुन्ध ललक प्रेमी-प्रेमिका की भौतिक देह की ही होती है। कुछ भी कहें, देह से परे या बाहर इसका कोई अस्तित्व नहीं होता। देह से परे की प्रेम-कहानियाँ अनेक लाचारियों की भुलावे-भरी कहानियाँ या बातें होती हैं। होता यह है कि देह के मिल जाने पर, सन्तुष्टि और विराग और फिर दूसरी देह को पाने की इच्छा स्वाभाविक है। सिवा सामाजिक या पारिवारिक डर या नष्ट-भ्रष्टता के और कोई कारण नहीं होता जो मनुष्य के प्रेम करने की इस अनन्त-अनवरत इच्छा पर विराम लगा सके। सवाल यह उठता है कि देह के अलावा वह दूसरा तत्त्व कौन-सा है जो मनुष्य को दुबारा प्रेम करने से रोकता है? दरअसल यह ज़िम्मेदारी, एक-दूसरे के प्रति सम्मान और संवेदनागत स्मृति का कमाल है जो आदमी को एक-दूसरे में बाँधे रहता है और जीवन-रस कभी ख़त्म नहीं होता। लेकिन फिर भी क्या प्रेम करने की यह इच्छा संयम, नैतिकता, ज़िम्मेदारी, अतीत की सुनहली स्मृति से अन्तिम रूप से ख़त्म हो जाती है। यह अलग-अलग मानस-चेतना से सम्पन्न अलग-अलग व्यक्तित्वों पर निर्भर करता है। अथवा क्या प्रेम की इच्छा एक कभी न ख़त्म होनेवाला मानसिक संगीत है जिसकी अनुगूँजें सदा-सर्वदा बनी रहती हैं। क्या प्रेम की इच्छा एक मानसिक पवित्र संवेग है और देह जिसका मात्र माध्यम है और कुछ व्यक्तित्व जीवन भर इतने भावनाशील, एकान्तिक और नैतिक बने रह सकते हैं कि दूसरी स्त्री या दूसरे पुरुष के लिए उनके मन में कोई भाव नहीं जागता? तुलसीदास ने स्त्री के मन में जागनेवाले इस भाव को कितना गर्हित माना है। लेकिन तुलसीदास के दिमाग का प्रेम, विबाह और सामाजिक व्यवस्था का आनुषंगिक है। जहाँ वह स्वतंत्र और उद्दाम है, जैसे कि सूर्पणखा का, वहाँ वह दंडनीय है। वैसे तुलसीदास की सूर्पणखा भी यह नहीं कहती कि वह प्रेम करती है। वह भी विवाह और पति चाहती है। क्या हम कहेंगे कि उद्दाम प्रेम की संवेदना उद्दाम वासना की सहयोगिनी है?

इस पृष्ठभूमि में जब हम मुक्तिबोध की प्रेम कविताओं को देखते हैं तो हमें कैसा लगता है? क्या मुक्तिबोध ने प्रेम का कोई नवीकरण किया? उनकी शुरुआती

दौर की अधिकांश प्रेम कविताएँ छायावादियों और माखनलाल चतुर्वेदी की काव्य-परिपाटी का अनुसरण करते हुए लिखी गई हैं। यानी वे एक विशिष्ट परिपाटी की उपज हैं, जिसमें प्रेम-तत्त्व और प्रेमिका–प्रेम का अनुभव और उसका आलंबन–दोनों ही काल्पनिक हैं। सब कुछ कल्पना के अमूर्त संसार में चल रहा है। यहाँ प्रेम की कविता साध्य है, प्रेमानुभव की सच्ची अनुभूति नहीं। मिलन या अलगाव, उदासी और दुख–सब लगभग नकली हैं, कविता लिखने के एक शैलीगत उपकरण हैं। यह जो पंक्ति है–'आज गिरती रात में तुम कौन मृदु अभिसारिणी हो?' यह परिपाटीगत एक उपयोग है। कविता बनाने का यह 'साधन', कविता की 'साधना' नहीं है। लेकिन मुक्तिबोध इसी से शुरू करते हैं। 'रचनावली' के पहले संस्करण में इनमें से अधिकांश कविताएँ नहीं छपीं। स्वयं मुक्तिबोध ने भी अपने संकोची स्वभाव के कारण इनमें से अधिकांश कविताओं को छपने के लिए तत्काल पत्र-पत्रिकाओं में नहीं भेजा। अधिकतर कविताएँ अब 'रचनावली' के दूसरे संस्करण (1982) में प्रकाश में आई हैं। तब यह लगा कि मुक्तिबोध प्रेमानुभव के सम्प्रेषण से वंचित कवि नहीं हैं। वे केवल वैचारिक शृंखलाओं के चितेरे ही नहीं, प्रेमानुभव के भी कवि हैं, हालाँकि कविताओं के विशाल ढेर में प्रेमानुभव की कविताएँ संख्या में कम हैं और सामान्य तौर पर उतनी महत्त्वपूर्ण भी नहीं। तब हम कविता के इस पक्ष पर विचार क्यों करें, यह एक सवाल उठता है। अपनी कविता के जिन दो मुख्य मुद्दों पर ('गुप्त अशान्ति' और 'अन्तर क्षेत्र में प्रवेश') मुक्तिबोध बात करते हैं उनमें से कौन-सा तत्त्व इन प्रेम-कविताओं में उजागर होता है? इन्हें पत्रिकाओं में अधिकांशतः न छपाने का जो संकोच है, वह इसलिए हो सकता है कि ऐसी कविताएँ जो छायावादी (नकली प्रेम) प्रेम कविताओं की परिपाटीबद्ध परम्परा से अलग हैं, मुक्तिबोध ऐसा मानते होंगे कि वे नितान्त निजी और एकान्तिक हैं और उनका वाह्य प्रसार सीमित है। इस नितान्त निजी अनुभूति की शब्दाभिव्यक्ति तो है लेकिन वह सिर्फ़ अपने लिए। यानी जहाँ आत्म-प्रसार नहीं होता उन्हें बाहर प्रकाशन में लाने का क्या अर्थ है? उनके इस संकोची स्वभाव के कारण ही उनके अध्येताओं ने समझ लिया कि वे प्रेमानुभव के कवि नहीं हैं। इस धारणा के पीछे 'अँधेरे में' कविता की उक्त पंक्तियाँ भी हैं :

क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?
हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी
जाग गई क्योंकर?

लेकिन शुरुआती दौर की छन्द-बद्ध, प्रेम के सिलसिले में परिपाटीबद्ध कविताओं के बाद जो छोटी और नितान्त निजी प्रेमानुभूतियों की कविताएँ हैं उनमें दैहिकता का आभास पहली बार होता है और यहीं से मुक्तिबोध छायावादियों और माखनलाल चतुर्वेदी से पीछा छुड़ाते नज़र आते हैं। 'तुम प्रातः की' कविता में कवि एक और इशारा करता है : 'किन्तु तुम्हारी मृदुल गोद पर जी न सकेगा मेरा जीवन'। यह बात क्यों कहता है कवि? सम्भवतः यह बात वही है जो फ़ैज़ कहते हैं :

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा,
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।

विचारों के जिस विशाल क्षेत्र में कवि को प्रवेश करना है, उसमें किसी की 'मृदुल गोद' पर पूरा जीवन निछावर करने से एक प्रकार की झिझक, एक प्रकार का इनकार है। 'जब तुम मिल न सकीं', 'चार क्षणों का परिचय', 'यदि तुम्हारे स्नेह से', 'सहज गति से', 'प्रार्थना', 'क्या तुम सह सकोगी'–वे कविताएँ हैं जिनमें अधिकांश अप्रकाशित थीं और उनकी भावभूमि से प्रकट है कि वे नितान्त निजी अनुभूतियों के प्रकाशन की अभिव्यक्तियाँ हैं। लेकिन इन्हीं कविताओं की शृंखला में 'किसी से' एक कविता है। यह कविता इतनी निजी और मन में एक अजब तरह का आतंक, एक अजब तरह की करुणा और प्रेम की एक साहसगाथा की तरह है। सम्भवतः यह कविता अपनी पत्नी (स्व.) शान्ताबाई को लक्ष्य करके लिखी गई है। इसमें वर्णवाद पर कठोर व्यंग्यात्मक प्रहार मुक्तिबोध ने किया है। वैसे यह कविता 'हंस', अप्रैल, 1946 में छपी थी, लेकिन इसका जो संरचित वातावरण है, उससे यह लगता है कि विवाह के बाद के उपेक्षित, तिरस्कृत दिनों में कभी यह लिखी गई होगी। अगर हम मुक्तिबोध और शान्ताबाई के जीवन के बारे में न जानें तो इस कविता की वर्गाधारित व्याख्या होगी, जिसमें स्त्रियाँ एक विषम समाज में शोषित वर्गों के अन्तर्गत ही आती हैं। तब इसमें उपस्थित नारी की वर्णवादी व्याख्या सम्भव नहीं होगी। लेकिन कविता में स्त्री को इस ढंग से रखा गया जिसमें उसका साथी पुरुष, यानी पति (या प्रेमी) ही अत्यन्त उत्तप्त व्यंग्य शैली में स्त्री (पत्नी) की हीन स्थिति का वृत्तान्त प्रस्तुत करता है। एक विवश व्यथा-कथा का वातावरण है जिसमें एक स्त्री की उपेक्षित-तिरस्कृत, सवर्ण समाज में अमान्य स्थिति का चित्रण किया गया है। एक पुरुष को उसी की इच्छा और उसी के प्रेम के कारण वरण करनेवाली स्त्री का वहिष्कार–इसी की उत्तप्त कथा है यह कविता। लड़की

की तरफ़ से यह एक प्रमाद है और प्रमाद करने का अधिकार सिर्फ़ 'उन्हें' है, तुम्हें नहीं। स्त्री को नहीं :

तुझे प्रमाद न करने का अधिकार
मात्र आदर्शवाद का भार कि वह
जो दासों का है, शूद्रों का आदर्शवाद
सारे प्रमाद करने का भी अधिकार उन्हें
अपराध–सत्य-सा रँगने का अधिकार उन्हें
...अरी नामहीन, गतिहीने, अयि मतिहीने
सभी चमक से हीन, गुणों से दूर, अमलिने
कहाँ फँस गई इस जंगल में?
सौ-सौ काँटे बिंधे तुम्हारे इस जर्जर अंचल में।
...तू बौनी है।
तेरी माता कौन? पिता भी कौन?
क्या तू धन लाई?
गुण, रूप, संस्कृति लाई है?
...यह तेरा आक्रोश-क्षोभ है व्यर्थ निदारुण
क्योंकि यहाँ सामाजिक संस्कृति के अन्तर्गत
यह विस्फोट मात्र बर्बरता।
अतः घुटन औ' घुलन यहाँ का नियम आमरण।

यह पूरा वृत्तान्त व्यंग्य है। इसके भीतर जो अर्थ-संकेत हैं वे पलटकर विपरीतार्थ की सृष्टि करते हैं। एक निजी घटना एक सामाजिक दुर्घटना में जैसे बदल जाती है। जातिगत विभाजन की जिस सड़ायँध और तकलीफ़ का उत्पाद यह कविता है, उसकी परिणति Individual Sex Love (Angles) में नहीं होती। अकेले कमरे में एकान्त का अर्थ केवल आँसू, केवल घुटन है। इसकी अगली परिणति आज 70 वर्षों बाद Honour killing है, समूह बलात्कार है। शरतचन्द्र मुक्तिबोध ने अपने भाई के लिए यह जो कहा है कि 'भाई साहब rebel थे, इसलिए aliniated भी थे'–उस कथन में जो कवि मुक्तिबोध का एक स्वतंत्रचेता नागरिक के नाते जो rebellion है उसकी परिणति इस एकान्तीकरण में है :

तुम कमरे के एक ओर कोने में
पड़ी हुई हो

जड़ीभूत हिचकी-सी।
...दुख की गरम रक्त की धारा
नीरव-नीरव।

लेकिन व्यक्ति और कवि और विचारक और एक मार्क्सवादी की हैसियत से मुक्तिबोध एक लड़की से प्रेम और विवाह और फिर वहिष्कार-तिरस्कार से पीछे नहीं हटते। इस रूप में एक प्रेमी और दाम्पत्य की चमक में एक नए चरित्र का उदय होता है। इस कविता का वह प्रेमी आज की सारी विडम्बनाओं के बीच जगह-जगह साहसपूर्ण संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है। एक कठोर, अश्लील और पीछे-देखू क्रूर जातिवादी वर्गवादी सामाजिक व्यवस्था की जकड़न और फाँस को ध्वस्त करता हुआ यह चरित्र एक ऐतिहासिक दौर का चरित्र है जो अपनी प्रेमिका को यों सम्बोधित करता है :

आ, मैं अपने प्राणों की कोमल कपास से उसे पोंछ दूँ
आ, उठ आ री घृणा-सिक्त तन-राशि, नहीं तू मैली,
अरी लांछिते, तू मानव है नहीं अकेली।
मेरे प्राणों के दावा-वन
में स्वर्णिम पुष्पों की तेषोल्लतिका-सी।

इसी तरह 'उपेक्षा की फुली', 'वे बातें लौट न आएँगी', 'मेरे जीवन की', 'बहुत दिनों से' और 'तुम्हें विश्वास होगा' जैसी कविताएँ हैं, जिनमें पत्नी, जो प्रेमिका भी है यानी जिसके पत्नी होने में प्रेम सबसे बड़ा कारक तत्त्व है, के प्रति उपेक्षा की आत्मस्वीकृति और दूर चले जाने पर उस प्रेम की प्रबलता, अतीत की स्मृतियाँ, जीवन का स्वत्व संग-साथ में अपने देखे हुए को उसी ढंग से दिखना और घनघोर एकान्त में उसकी याद, ये सहज-सरल बातें हैं जिनसे मुक्तिबोध की प्रेम-कविताएँ बनती हैं। दरअसल मुक्तिबोध के साथ ही पत्नी के प्रति इस तरह से अन्तरंग संग-साथ की वांछाएँ अग्रवाल और नागार्जुन में भी मिलती हैं। 'हे, मेरी तुम' कविताओं की सारी शृंखला या, घुमक्कड़ी, बेकारी और निपट विपन्नता के बीच नागार्जुन की 'सिन्दूर तिलकित भाल' वाली कविता प्रेम की उसी अन्तरंग उपस्थिति का प्रमाण है जिसके लिए एंगिल्स अपनी किताब 'The origin of the family...' में कहते हैं 'If only marriages that are based on love are moral, then also those are moral in which love continues' चाहे इन सभी कवियों के विवाह का मूलाधार प्रेम रहा हो या न रहा हो, प्रेम की प्रवहमान उपस्थिति

वहाँ विद्यमान है। लेकिन आज के (और मुक्तिबोध के समय के भी) पूँजीवादी समाज में, जहाँ जीवन इतने विकट रूप से साजिश का शिकार और संघर्षपूर्ण हो गया है, वहाँ इतनी प्रशान्ति के साथ क्या प्रेम की निरन्तर प्रवहमान उपस्थिति सम्भव है? एंगिल्स ने भविष्य में आनेवाले एक समतापूर्ण समाज की स्थापना के भीतर प्रेम और दाम्पत्य कैसा होगा, इसका विश्लेषण किया है। अगर वह समाज नहीं बना, जैसा कि हम देख रहे हैं, तब एकल विवाह में प्रेम का निरन्तर प्रवाह सम्भव नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि एंगिल्स आर्थिक बराबरी या ग़ैरबराबरी के समानान्तर मनुष्य के मन और उसके सामाजिक व्यवहार, उसकी नैतिकता-अनैतिकता की जो बातें करते हैं वे उतने स्थूल रूप में घटित नहीं होतीं। मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया और अलग-अलग व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक ऊहापोह, उनकी इच्छाएँ या उनके अवसाद और ख़ुशियाँ इतने मोटे ढंग से निर्धारित नहीं होतीं। मज़दूर वर्ग या सर्वहारा के दाम्पत्य और प्रेमी जीवन को जिस तरह से एंगिल्स एक आदर्श मानकर विश्लेषित करते हैं क्या वह सचमुच वैसा ही है या सर्वहारा वर्ग के सभी जोड़ों में एक-सा है? किसी भी सामाजिक अवस्थिति में मनुष्य की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को इतने समतल और सपाट ढंग से नहीं समझा जा सकता। अपनी अलग-अलग मानसिक-संवेग-प्रतिक्रियाओं से ही एक मनुष्य दूसरे से भिन्न और विशिष्ट होता है। अतः प्रेम की सतत प्रवहमानता की गारंटी भी हर दम्पति को नहीं दी जा सकती। और पूँजीवादी, अर्द्धसामन्ती या अन्ध धार्मिक, अवैज्ञानिक समाजों में, जिनमें से एक भारतीय समाज भी है, दाम्पत्य को चलाए चलने के अनेक कारण होते हैं। उनका आख्यान और उनकी विशिष्टताएँ तो एंगिल्स ने बताई ही हैं। और उपर्युक्त समाजों में ही क्यों, पश्चिमी दुनिया के अति विकसित या पूँजी से समृद्ध समाज के दम्पतियों में तो प्रेम की यह सतत प्रवहमान उपस्थिति और भी कम है या कहें कि विकारग्रस्त हो चुकी है और वैधानिक तलाक की प्रक्रिया जिसे एंगिल्स 'कीचड़' की संज्ञा देते हैं, वह दिनोदिन बढ़ती जा रही है। यह सब इसलिए कि आर्थिक समृद्धि या पिछड़ेपन के आधार पर मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं को पूरी तरह समझा ही नहीं जा सकता।

हम पूछ सकते हैं कि प्रेम की उपर्युक्त पारम्परिक कविताओं में ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिसके लिए हमने मुक्तिबोध की प्रेम-कविताओं का विश्लेषण करना ज़रूरी समझा। क्या मुक्तिबोध प्रेम के सम्बन्ध में कुछ ऐसा नया जोड़ते हैं जो प्रेम-कविताओं के संसार में अभी तक नहीं दीखता। क्या individual sex love

से अलग स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को किसी दूसरी दिशा में मोड़ा जा सकता है, जिसमें sex न हो और love भी स्त्री-पुरुष के परस्पर स्वस्थ सम्बन्ध बने रहें? निश्चय ही मुक्तिबोध जैसे पवित्र, भावनाशील, निश्छल यदि उग्र रूप से संवेदनशील थे, तो उन्होंने इस सवाल को अपने ढंग से हल किया है और यह हल कोई प्लेटोनिक प्रेम जैसा हल नहीं है। युवा स्त्री-पुरुष के बीच यह उच्च कोटि का मैत्री सम्बन्ध है जिसका सन्धान मुक्तिबोध करते हैं। Individual sex love से ऊपर उठा हुआ और प्लेटोनिक प्रेम की पैसिविटी से अलग, यह प्रेम जैसे दो विचारों की सगर्व-समानान्तर यात्रा है। यह यात्रा कितनी सम्भव है, इसकी चिन्ता मुक्तिबोध नहीं करते। प्रेम की ऊर्ध्व-यात्रा में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 'मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा' उनके इस सन्धान का शिखर है।

यह सच है कि इस कविता (मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा) का विश्लेषण अत्यन्त कठिन है। सम्पादक के अनुसार कविता सन् 1953 से 1960 (नागपुर और राजनांदगाँव) तक लगातार लिखी जाती रही यानी 'रची' जाती रही। यह काम मुक्तिबोध अपनी अधिकांश कविताओं के साथ करते रहे हैं। सारी प्रदीर्घ कविताएँ एक लम्बे (अपेक्षाकृत) काल तक सुधारी-रची जाती रहीं। उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा। क्योंकि उनकी कविताओं की अन्तर्वस्तु ही ऐसी है। एक चमक के साथ उदित होने के बाद मुक्तिबोध अपने भीतर की उस 'द्युति' (द्युति की कली) से बेचैन हो जाते हैं। उसे तरह-तरह से व्यक्त करने की उनकी अकुलाहट देखने लायक होती है। तब वे नए-नए बिम्ब-प्रतीकों की खोज और प्रसार में डूबने-उतराने लगते हैं। यह काम इतना आसान नहीं है। उनकी कविताओं का कथ्य विकसित भी होता है और ठहरा हुआ भी रहता है। इस मायने में वे पन्त + निराला के सम्मिलित रूप हैं। कथ्य स्थिर भी है और बिम्बों की फ़्लैश-लाइट से लगातार चमकता भी चलता है (यह पन्त का शिल्प है।)। और कथ्य एक लगातार आगे बढ़ता हुआ, विकसित होता हुआ वृत्तान्त भी है, यह निराला का शिल्प है। लेकिन अगर कोई कविता सात वर्षों तक लगातार 'रची' जाती रहे तो उसमें बार-बार परिवर्तन-परिवर्द्धन की गुंजाइश, उसे और सुन्दर, चमकदार, गहरी, चामत्कारिक बनाने की ओर, उसके कथ्य को बुद्धि-संवलित सोच से निखारने की ओर, कवि की या रचनाकार की प्रवृत्ति और बढ़ती जाती है, बदलती जाती है। इस प्रक्रिया में कविता का वृत्तान्त पक्ष अत्यन्त सघन-संश्लिष्ट और कभी-कभी अत्यन्त जटिल और उलझाव भरा भी हो जाता है। कवि (और ख़ासकर मुक्तिबोध) उसे बिम्बों

के घने आवर्तों से लादने और निखारने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। मुक्तिबोध इसके सबसे विचित्र और भारी-भरकम उदाहरण हैं। 'मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा' में बिम्ब आम्र-मंजरियों की तरह पूरे काव्य-वृक्ष पर लदे हुए हैं।

'मिथ्याचारों भ्रष्टाचारों की मध्य रात्रि
में सभी ओर
काले-काले वीरान छोर।
ख़ुदग़र्ज़ी के बदसूरत स्याह दरख़्तों की
गठियल डालों पर रहे झूल
फाँसी के फन्दों में मानव आदर्श-प्रेत!
जैसे सूखे जंगली बबूल
वैसे निर्हेतुक जीवन की शुष्का कविता।
सत्ताधारी की पैशाचिक हड्डी के पंजे की सत्ता
जीवन हत्याओं की काली यह रोमहर्षमय देश-कथा
अब क्षितिज-क्षितिज पर गूँज रहा
चीख़ता हुआ-सा एक शोर
शोषण के तलघर में अत्याचारों की चाबुक मार घोर।'

लेकिन यह तो एक पक्ष है। इसमें कोई हानि भी नहीं है।

गड़बड़ वहाँ है जहाँ कविता का कथ्य वर्षों की इस लगातार काट-छाँट, छील-छाल में कई बार उलझ जाता है। उसकी प्रतीकात्मकता एक बाधा की तरह आ खड़ी होती है। यह पूरी कविता 16 खंडों में विभाजित है। शुरू के 8 खंडों में कविता की अन्तर्वस्तु अलग है और नवें खंड से सहसा बदल जाती है। आठ खंडों तक वह 'क्रान्ति' के उतरने, नव-जीवन के उगने और जीवन-जगत् और समाज-परिवर्तन की एक संघर्ष-कथा बनती हुई दीखती है। सत्ता और जनता, शोषण और मुक्ति शासकवर्ग और सामान्य-जन की द्वन्द्वात्मक कथा गढ़ती हुई लगती है। सघन बिम्बमालाओं की लड़ियों-दर-लड़ियों के कारण यह हिस्सा चमकदार ज़रूर है लेकिन कथ्य के भीतर लगातार एक धुँधलका बना हुआ है, या मुक्तिबोध की कविता-पद्धति से परिचित जो पाठक हैं, उनके लिए उसका एक मूर्त-अमूर्त, चित्र-विचित्र का मिला-जुला, जाना-पहचानापन है। पाठक यह सोचते हुए आगे बढ़ता है कि घटित या फलित अभी आगे है। वह क्या है, अथवा क्या होगा, इसके बारे में एक धुँधली उत्सुकता बनी रहती है। कवि-बिम्ब यह है कि 'मालव

निर्झर की झर-झर कंचन रेखा' उदयाचल पर उगती स्वर्ण-लकीर है–और यह एक 'नए युग' का जन्म है, उसका उतरना है। तुलसीदास भी राम के लिए कुछ इसी तरह कहते हैं–'उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग'। लेकिन यहाँ उदयाचल की पर्वत-रेखा (और कंचन रेखा) स्त्रीलिंग है और यहीं से कविता में सारी झंझट शुरू होती है। यह 'पर्वत रेखा' 'द्युतिचेतोमय' है, 'दृढ़-शान्त' है, 'आत्म-संवेदनमय' है, 'सिद्धान्तों-सी' है, हाथों में 'लाल-लाल सूरज थामे' है, 'भव्य रक्त-प्लावित और गम्भीर रूप से खड़ी' है। यह कौन है–स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है? 'भव्य रक्त-प्लावित, हाथों में लाल-लाल सूरज थामे उदयाचल की पर्वत-रेखा'–यह कौन है। यहाँ यह स्त्रीलिंग है, इसलिए हम समझते हैं कि यह 'क्रान्ति' का प्रतीक है। लेकिन पहली ही पंक्ति में 'निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा' करके (नया) युग उतरने की सूचना कवि देना चाहता है या देता है। कवि की ईमानदारी भरी उलझन पर विश्वास करें और स्त्रीलिंग-पुलिंग के फेर में न पड़ें तो वह कहना चाहता है कि यह पहली सूर्य-किरण जो कंचन-रेखा-सी है, और निर्झर की कंचन-रेखा-सी है, और जो 'साहस की रश्मि-शलाका बन' उतरी है, वह ऐसी है...वैसी है–वह क्रान्ति सुन्दरी है। इस तरह वाक्य-संगठन में एक जटिल-हेराफेरी है। और तिस पर यह कि कवि उसे 'अपने भीतर' देखता है...या जैसी कि उसकी रचना-प्रक्रिया की आदत है, वह उसे 'नीले सपने' में देखता है। 'नीले सपने' की बात आते ही सारी बात वृत्तान्त की सरलता से उठकर एक जटिल स्वप्न-फ़ैंटेसी में चली जाती है। और तब पाठक के लिये सब कुछ सरल हो जाता है। वह स्वप्न-सुंदरी कुछ भी हो सकती है–'मालव निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा', 'उदयाचल की पर्वत-रेखा', 'क्रान्ति' या जैसा कि कवि कविता के प्रथम अंश में कहता है :

...कि मन की एक लगन!

कविता का यह प्रथम खंड ही उलझन भरा है। उसे ठीक-ठाक करने के लिए कवि अनेक तरकीबें भिड़ाता है। 'कंचन-रेखा', 'पर्वत-रेखा' और 'युग उतरा' में लिंग-विखंडन है जो कविता में सधता नहीं। और इस सारी झंझट की जड़ 'जब युग उतरा' यह वाक्य-पद है। कवि ने अपने 'नीले सपने' में क्या देखा? 'उतरता हुआ नया युग' या 'झर-झर कंचन रेखा' के रूप में उतरता हुआ नया युग? सम्भवतः यही उसका कथ्य है। लेकिन फिर 'कंचन-रेखा' और 'रश्मि शलाका' में सिर्फ़ रंग साम्य है, लेकिन गुणात्मक विभेद है। और कवि की उलझन यहीं है। वह रंग-साम्य

और गुण विभेद को मिलाना चाहता है या मिला देता है। कवि लोग या सभी कलाकार इस तरह के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। भावुकता में चाहते हैं कि ऐसा ही हो जाए। कविता में यह 'तिलोत्तमा न्याय' है।

इसके बाद कविता के दूसरे खंड में कवि जन-जीवन की साधारण महानता का द्वन्द्वात्मक वृत्तान्त पेश करता है। वह यह मानकर चलता है कि सामान्य-जन को 'महान उपस्थितियों के सम्मुख कर' अथवा 'आभ्यान्तर मन की अक्षमताओं और विकृतियों के सम्मुख कर' 'संक्षिप्त' अथवा 'लघु अल्प' नहीं बनाया जा सकता। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या यह सन् '50-'60 के ज़माने में हिन्दी कविता के दृश्य-पटल पर चल रहे 'लघुमानववाद' की एक प्रतिक्रिया तो नहीं है? मुक्तिबोध उस तथाकथित 'लघुमानव' के लिए कहते हैं कि उसके 'पैरों और जाँघों में गरम-सुनहला (?) ख़ून बिजलियों का-सा है।' उसमें एक गति है, त्वरा है, उत्साह है। उनका यह कथन कितना भावुक और ज़ोरदार है :

'वह जीवन गहरा है, ऊँचा है, प्यासा है
वह अतिसाधारण फटेहाल ही क्यों न रहे।'

कवि के पास अपने लक्ष्य की ओर भागती हुई यह दार्शनिक कविता है, जो नया-नया युग लाती है, समाज-परिवर्तन करने में सक्षम है और आगामी को बदल डालने की पूरी प्रयत्न जैसी है। यही साधारण-जन एक भूचाल की तरह दुनिया के दिक् और काल को अपने विक्षोभों और संघर्षों के बल पर पलट देते हैं :

सच तो यह है
जो लाल-लाल भीतर प्राणों में लहराता
जीवन-अनुभव का रुधिर-ताल
उस रक्त-ताल के तल में से
फूटा है गहरा रश्मि-जाल
सच हृदय-रक्त के लाल-लाल
में डूबा, गहरे डूबा है
जीवन-विवेक।

इसी 'जीवन विवेक' से परिवर्तन होगा। और वह, ऐसा परिवर्तन, ऐसा युग अब हमारी धरती पर उतर आया है। प्यासे जन-जीवन के लिए वही युग, वही रश्मि शलाका उदयाचल पर प्रकट हो रही है। कविता के पाँचवें खंड में कवि शोषण के तलघरों में चल रहे अत्याचारों की मध्य-रात्रि का एक अनहोना चित्र-

बिम्ब रचता है। छठे और सातवें खंड में वह सामान्य, संघर्षरत जन-मानस की 'मानवीय माधुर्य छवियों' का अंकन करता है और फिर एक विचित्र द्वन्द्व-कथन की ओर सहसा इंगित करता है :

'ज़िन्दगी और उलझा देतीं
ये मानवीय माधुर्य अनुभवों की छवियाँ'।

यह उलझन बड़ी विचित्र, यथार्थ लेकिन आश्चर्यजनक है। कवि के समाज-परिवर्तन का वह भावुक उत्साह, उसकी उठान-भरी रचना सहसा यहाँ एक दूसरा मोड़ लेती हुई दिखती है। संघर्ष और कोमल छवि की आपसी गुत्थी में ज़िन्दगी उलझन, अनिर्णय, विश्रान्ति, आन्तरिक उत्सव की उदासी की ओर बढ़ती दिखाई देती है। एक नियम-क्रम में दोनों आगे बढ़ते हुए नहीं दिखते। सामंजस्य सम्भव नहीं दिखता। जादुई अरुण कमल लाने की इच्छा का इज़हार तो है, 'मर-मर कर ज़िन्दगी पाने' के सत्य का दर्शन तो है, लेकिन यह सब-कुछ मन के अन्तर्दर्शन में फिट नहीं बैठता। यह तभी सम्भव है जब प्रिय-जन की 'कृपा-दृष्टि', 'कोमल-स्मिति' कवि को प्राप्त हो। कवि का कहना है कि हम इसी के लिए तरसते रहते हैं। यह 'कृपा-दृष्टि', यह 'कोमल स्मिति' ही व्यक्तित्व को वह भव्यता प्रदान करती है, जिससे वह समाज-परिवर्तन के लिए अनुशासित होता है। यहाँ कवि संघर्ष को अनुशासन और व्यक्तित्व की भव्यता से जोड़ता है, सामंजस्य बिठाना चाहता है। यही सामंजस्य बिठाने में कविता का यहाँ अन्त होता-सा लगता है, लेकिन अन्त होता नहीं। आठवें खंड से वह 'कोमल स्मिति' मुखर और महत्त्वपूर्ण हो जाती है और आगे की सारी काव्य-संरचना एक कोमल, सलज्ज, संकोच भरी प्रेमाभिव्यक्ति में बदलती हुई दीखती है। मुक्तिबोध के काव्य-व्यक्तित्व में प्रेम की एक ससंकोच अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि तो है, जिसमें प्रेमिका-पत्नी, छायावादियों और माखनलाल जी वाली काल्पनिक प्रेमिकाओं को लेकर कविताएँ तो मिलती हैं, इनका उल्लेख भी हम पिछले पन्नों में कर चुके हैं...लेकिन इस लम्बी कविता में उनके काव्य-व्यक्तित्व का यह प्रेम-पक्ष यहाँ आठवें खंड तक आते-आते पहली बार इस तरह से मुखर होता है। यहीं से यह कविता एक आधुनिक प्रेम-कविता में बदल जाती है।

क्या सचमुच बदल जाती है? या क्या सचमुच उपर्युक्त आठ खंड कविता के नवें खंड तक पहुँचने की तैयारियाँ हैं? या क्या सचमुच यह एक उत्कृष्ट और नवोन्मेषित, आधुनिक प्रेम कविता है? अगर ऐसा है तो प्रेम के सन्दर्भ में इसकी नवोन्मेषिता क्या है? और फिर सभ्यता के पूरे विकास में अब तक स्त्री-पुरुष के

सम्बन्धों की जो विकास-यात्रा है, उससे किस रूप में इस कविता का निष्कर्ष अलग है? और इस रूप में यह कवि-स्वभाव की मौलिक निर्मिति बन जाती है? यानी स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में एक नया आयाम जोड़ती है, उस सम्बन्ध में एक आधुनिक नैतिक तेवर प्रदान करती है। दरअसल इस नवें खंड से यह कविता, काव्य-कथन में एक अन्तरालाप की तरह घटित होती है। बाहर उसका शारीरिक या शाब्दिक आवेश कहीं नहीं प्रकट होता। प्रेम प्रकृति की विराटता में घूमते-टहलते दो व्यक्तियों (एक स्त्री, एक पुरुष) का अव्यक्त व्यक्त है, एक मौन अनुभव है। उस अनुभव के अव्यक्त आसंगों को, उस अव्यक्त कथन को कहने की कोशिश है। उसमें कुछ का कुछ कहा जाता है। वह कुछ का कुछ कहा जाना ही प्रेम का वास्तविक चरित्र है। सघन, जटिल, सार्थक, निरर्थक, निराकार-साकार...यही नित्य-शाश्वत है। कवि नवें खंड के पहले ही यह प्रश्न उठाता है और उसका उत्तर भी देता है :

वह नित्य शेष क्या है?
जन हैं!
मन है, हम हैं, यह जीवन है
जिसके उन्मेष अनुभवों की मिठास पीकर
मन में रंगीन धुँधलका-सा।

यही वह अव्यक्त, अनासक्त, विभक्त-अनुरक्त प्रेम की मिठास है। मुक्तिबोध अनुभव करते हैं कि यह शाश्वत मिठास मन में एक 'रंगीन धुँधलका' पैदा करती है। स्पष्टता को अस्पष्ट बनाती है। निर्णयात्मक बुद्धि-व्यवसाय को किंचित् अनिर्णय-अनिश्चय में बदल देती है। प्रेम का अनुभव एक 'रंगीन धुँधलका' है। लेकिन मुक्तिबोध जिस तरह के कवि हैं, वे इस स्थिति में तो नहीं रह सकते। उन्हें तो निर्णय चाहिए, स्पष्टता चाहिए, किसी भी अनुभव का कोई लक्ष्य, कोई चमकदार दिशा-प्रान्तर चाहिए। अगर प्रेम सिर्फ एक 'रंगीन धुँधलका' है तो मुक्तिबोध जैसा ईमानदार, पवित्र, सरल और लक्ष्य-भेदी व्यक्तित्व उससे अलग हो जाएगा...अथवा उसका अर्थ, उसकी एक नई निष्पत्ति, एक नए विचार में उसका अन्त या उसका आविष्कार ढूँढ़ेगा। तो मुक्तिबोध यही करते हैं। वे देखते हैं कि इस रंगीन धुँधलके ने, इस प्रेमानुभव ने :

धीरे बढ़कर
नव जिज्ञासा की किरणांगुलियों से
मेरे मन के, हलके से खोले अन्ध-द्वार!

यह वाक्य-पद कुछ-कुछ छायावादियों जैसा है। इस पंक्ति पर पन्त की छाया है लेकिन इसी पंक्ति में इसकी इति-श्री भी हो जाती है। पन्त तो मात्र 'अन्ध द्वार' के खुलने से ही सन्तुष्ट हो जाते। लेकिन मुक्तिबोध? वह तुरन्त, इसके बाद, प्रेम के बौद्धिक मूल्यांकन की ओर बढ़ते हैं। प्रेम स्वतः स्वायत्त नहीं है। वह एंगिल्स द्वारा विमर्शित Individual sex love भी होने और वहीं रुक जाने की स्थिति में मुक्तिबोध के यहाँ नहीं है। एंगिल्स जिस समतामूलक समाज की स्थापना का स्वप्न आने वाले समय में देखते हैं और उसमें प्रेम की नैतिक स्थिति को परिभाषित करते हैं, मुक्तिबोध उस समतामूलक समाज के लिए संघर्ष की व्यापक प्रक्रिया में इस वक्त हैं। कविता के पिछले आठ खंडों में लगातार वे इस संघर्ष के भावोद्रेक का न्र्गान करते हैं। अगर समतामूलक समाज की स्थापना की प्रक्रिया में हम हैं तो उस अवस्था में प्रेम का क्या स्वरूप होना चाहिए, यह मुक्तिबोध की समस्या है। तब प्रेम का कोई बड़ा लक्ष्य होना चाहिए। एंगिल्स की परिभाषा और उनके मानदंड से अलग। मुक्तिबोध उसके बारे में कुछ यों कहते या सोचते हैं :

तब समझा
मानव-मुक्ति-यत्न के रूप बहुत
प्रेरणा एक, पर हैं अन्वेष-स्वरूप बहुत...

प्रेम भी मानव-मुक्ति का एक प्रयत्न है–स्पष्ट से अस्पष्ट, फिर अस्पष्ट से स्पष्ट। अन्ध-द्वार से प्रकाश, सामान्य से व्यक्तित्व-भव्यता, धुँधलके से रंग-स्वप्न तक पहुँचने का यहाँ एक स्पष्ट तर्क है। सम्भवतः इसी तर्क पर पहुँचने के लिए मुक्तिबोध कविता के प्रारम्भिक खंडों पर इतना घनघोर परिश्रम करते हैं। तब लगता है कि कविता की अन्तर्वस्तु स्पष्ट रूप से कुछ दूसरे तरह की है। प्रेम भी मानव-मुक्ति का एक साधन है। यह मुक्ति का उच्चतम अन्तर्दर्शन है। इस सोच-विचार के बाद ही मुक्तिबोध शुरू में सामाजिक परिवर्तन के द्वन्द्वात्मक संघर्ष का एक सजीला, गहन, संश्लिष्ट, बिम्बमय चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इस संघर्ष के बीच एक सधे हुए शिल्पी की तरह वे प्रथम खंड की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही अपने प्रेमास्पद प्रतीक को उतार देते हैं :

मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा बन
...साहस की रश्मि शलाका बन
उदयाचल की पर्वत-रेखा...
द्युतिचेतोमय, सिद्धान्तों-सी

वह लाल-लाल सूरज थामे
थी खड़ी भव्य रक्ताप्लावित गम्भीर
...कि मन की एक लगन।

यहाँ बीच-बीच में किसी-किसी पंक्ति या पद को मैंने उद्धृत करने से छोड़ दिया है लेकिन वह जानबूझकर। उससे अर्थ-विपर्यय या अर्थ-विघटन होने की सम्भावना है। यहाँ यह प्रश्न ज़रूर उठेगा कि क्या कवि अर्थ-विघटन या अर्थ-विपर्यय चाहता था? अगर चाहता था तो मैं उससे बचकर अपना कोई अर्थ कर रहा हूँ जो कवि का अभिप्रेत नहीं है? ऐसा कुछ भी नहीं। विघटित अर्थ कवि आगे चलकर घटित-संघटित अर्थ में सिद्ध करता है। उसका भी वही अभिप्रेत है (कुछ फैलाकर) जो मेरा है।...तो यही 'झर-झर कंचन रेखा' 'मन में रंगीन धुँधलका' पैदा करती है। यही 'माधुर्य छवि' कवि की उलझन है, जिसे वह 'मानव-मुक्ति' के बहुत सारे 'अन्वेषों' में से एक अन्वेष मानकर इस धुँधलके से छुट्टी पाता है, अपने भीतर की 'उलझन' का हल निकालता है। अन्ततः यह प्रेम ही कविता की मूल और मुख्य अन्तर्वस्तु है, जिसकी सर्वथा एक नई संरचना नवें खंड से कवि शुरू करता है। अतः हम कह सकते हैं कि कविता के प्रथम आठ खंड पूरी कविता का उपस्थापन हैं। वैचारिक दृष्टि से एक ऐसा दृढ़ और गौरवशाली स्थापत्य–एक क्लासिकी स्थापत्य–जिस पर कवि प्रेम के अपने निजी, मौलिक, इतिहास में अभी तक अननुभूत अनुभव की सर्वथा नई और आधुनिक इमारत तैयार करता है। वह न तो दैहिक है, न आध्यात्मिक, आत्म-अनात्म से परे, अनुभूति की पवित्रता के भीतर और साथ ही अनुभव की स्थूलता से स्वतंत्र। द्वैत का अद्वैत और अद्वैत का द्वैत। संयोग-वियोग से परे। न सुखान्त, न दुखान्त। न घटित, न अघटित। उद्वेग और प्रशान्ति दोनों से स्वतंत्र। अनन्य :

आन्तरिक सभ्यता का अपना इतिहास
कठिन संग्राम-काव्य, रोमांस, ललित विस्तर
गुणाढ्य की छल-उद्घाटक वृहद्-कथा
है मानवीय माधुर्य-क्षणों की द्राक्ष-लता
...मानो असंख्य-अनदिखे, अछूते फूलों का उसमें पराग
केसर का-सा, ईमान भरा, अनकहा, गहन आत्मीय राग।

यह प्रेम की वह गहन परिभाषा है जो मुक्तिबोध प्रस्तुत करते हैं। इसमें ग़ैर-पारम्परिक और सर्वथा नूतन, नवोन्मेषित और मौलिक तथा पारम्परिक दोनों तरह

के प्रतीक-बिम्नों का प्रयोग मुक्तिबोध ने अपने इस 'प्रेम-भाव' को अभिव्यक्त करने के लिए किया है। यह काम वह अक्सर करते हैं। बिम्बों की यह मिलावट उनके स्थापत्य का अपना शिल्प है। 'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता में 'ब्रह्म' के रहस्यवादी आख्यान को ध्वस्त करते हुए अचानक उसके विलोम-चित्रण (या प्रतिचित्रण) में कवि 'भगवान राम की शबरी' को अचानक याद करता है। यह बिम्ब ब्रह्म के ध्वस्तीकरण के बावजूद किया गया है (सम्भवतः) क्योंकि शबरी सामान्य-जन का एक उज्ज्वल प्रतीक है।

प्रेम के सम्बन्ध में मुक्तिबोध द्वारा शोधित और व्यक्त यह मौलिकता कई स्तरों पर है : प्रथमतः प्रेम करनेवाले दोनों व्यक्तियों की निजी वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा की गारंटी। 'एक-दूसरे के व्यक्तिगत तल' की सम्पूर्णतः सुरक्षा की ज़िम्मेदारी। एक-दूसरे के आन्तरिक व्यक्तित्व के बारे में जानने की उत्सुकता का अभाव। ये सारी शर्तें पारम्परिक प्रेम-सम्बन्धों के ठीक उलट हैं। यह स्त्रीत्व (feminism) की सुरक्षा की एक तरह से गारंटी है। प्रेम के क्षेत्र में यह एक नया नैतिक मान है। पारम्परिक प्रेम तो एक-दूसरे में सर्वथा लय हो जाने की स्थिति है। हालाँकि निराला कहीं-कहीं इस विलय के विपरीत, एकदम आधुनिक भी हैं :

बैठ लें कुछ देर
आओ,
एक पथ के पथिक-से
प्रिय अन्त और अनन्त के
तम-गहन जीवन घेर।
मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में
मन सहजता की बाढ़ में
जल-बिन्दु-सा बह जाय।

यहाँ एक-दूसरे की व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की पूरी गारंटी है। मुक्तिबोध यहाँ बिलकुल निराला के निकट हैं, जब वे कहते हैं :

'कब एक-दूसरे के वैयक्तिक तल पर बोलो गया ध्यान?'

लेकिन इसी कविता में एक अवशता का आख्यान भी है। वैयक्तिक स्वतंत्रता को लेकर एक सहज उदासी का चित्रण भी है। यह सहज उदासी, यह अवशता ही कविता में एक 'अनकहे आत्मीय राग' का चित्रण भी करती है। यही वह द्वन्द्व

है (पुराने और आधुनिक का) जो कविता में एक नए नैतिक मान की संरचना करता है। यही वह निराला का 'मौन-मधु' है जो एक भव्य व्यक्तित्वमय उदासी की सृष्टि करता है :

तब अकस्मात् गहरी उचाट
...दैनिक उथले जीवन के नित्य समानान्तर
गहरे जीवन की धाराएँ भीतर-भीतर
इस द्वैतपूर्ण विघ्न को मिटा
अग्रतः प्रयत्नों की उदग्रता में तुम भी
देखने लगीं बेचैन स्वप्न
उस जीवन का
तुम आसमान के नीचे धरती पर निर्मल
केवल मनुष्य केवल मनुष्य
बनने को यों आतुर कि मुझे
भवितव्य तुम्हारा दिखा बहुत भीषण उदास
करना होगा पूरा प्रयास
मरने का, मरते रहने का पूरा प्रयास।

विस्तार भव्यताओं की कोमल एक गन्ध
उसकी मीठी कोमल झकोर
या कोई गहरा कर-स्पर्श
या उर-स्पर्श
हममें उँड़ेलता अकस्मात् नवीन साक्षात्कार
मीठी ज्वलन्त पहचानमयी
गहरी कोमल अहं-अस्मि वेदना सजग हुई।

इसी विचित्र परिणाम को मुक्तिबोध कुछ इस तरह चित्रित करते हैं :

यों बहते हुए अनन्य
एकता के समीप
हम सहसा दूर विभक्त हुए
फिर अलग-अलग जाकर
निज पर विस्मित होकर

अनुरक्त हुए।
ज्यों दो विचार
आगे-आगे बढ़कर गम्भीर
निष्कर्ष एक में समा चले।

केवल मनुष्य बनने के प्रयत्न में कवि एक 'उदास भवितव्य' का कथन क्यों करता है? क्योंकि मनुष्य बनना सतत 'मरते रहने'–सभ्यता और आज तक के जीवन में निर्मित मानुषिक (अमानुषिक भी कह सकते हैं)–प्रयत्न है। मनुष्य की वर्तमान स्थिति से उसका निरन्तर विकास। एक पौधे में से निरन्तर एक दूसरी कोंपल। इसमें जो झर जाता है उसी को लेकर 'भवितव्य' का उदास कथन है क्योंकि वह भी तो संचरण के दौरान उसी मनुष्य-द्वारा ही निर्मित है। नई मनुष्यता अर्थात् वर्तमान मनुष्यता की (या उससे धीरे-धीरे) मुक्ति। प्रेम उस मुक्ति के बहुत सारे अन्वेषों में से एक है। लेकिन इस विकास-यात्रा में प्रेम को भी नए रूप में अपने को पुनर्सृजित करना होगा। मुक्तिबोध इसी प्रयत्न को 'मर-मर कर जीवन पाने' की उक्ति के रूप में पेश करते हैं। यही 'मार्ग' है। यही संघर्ष है। इसी तरह मनुष्यता की अपने अतीत और वर्तमान से मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ यहाँ आत्म-मुक्ति या पारम्परिक मोक्ष नहीं है। वह यहाँ लक्ष्य भी नहीं है। मुक्तिबोध जैसे नव-मनुष्यता के विचारक के लिए आत्म-मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है। मुक्ति का अर्थ मनुष्यता का संशोधन-परिवर्द्धन। और प्रेम उसका एक मार्ग है। 'उदास भवितव्य' इसलिए कि वह बहुत कठिन लक्ष्य है। ग़ालिब क्या कहते हैं :

बस कि दुश्वार है हर काम का आसाँ होना
आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना।

मनुष्यता की मुक्ति 'आदमी से 'इन्सान' बनने का संघर्ष है। और ग़ालिब कहते हैं कि यह काम इतना आसान नहीं। वह 'मरण' को बराबर 'वरण करने' की एक प्रक्रिया में ही सम्भव है।

प्रेम में एकात्म न होने के द्वन्द्व को मुक्तिबोध 'अहं' की चेतना से या व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की रक्षा से जोड़कर देखते हैं। एकात्म होने की बलवती इच्छा पर संयम अत्यन्त कठिन है। इसकी व्याकुलता को कवि कुछ इस तरह व्यक्त करता है :

मैं क्या न करूँ, कुछ कर डालूँ, सब कुछ कर लूँ।

इसी अनुभव को मुक्तिबोध 'अहं अस्मि' वेदना सजग हुई से संयमित करते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' के उस पुरातन कथन से मुक्तिबोध ने 'अहं अस्मि' लिया और

इस अनुभूति को वेदनामय कहा। 'मैं ही ब्रह्म हूँ'–यह तो एकात्म लय की आनन्दानुभूति है। उसके बरक्स मुक्तिबोध ने 'अहं अस्मि' की 'वेदना' का साक्षात्कार किया। यही आज के मनुष्य का और इस कवि का आधुनिक वर्तमान है। नया अन्वेष है। मनुष्य का विकास उसके भौतिक अस्तित्व को अक्षत रखते हुए करो, उसके आध्यात्मिक लय या मुक्ति में उसका भविष्य नहीं है। जीवन से मुक्ति नहीं, मनुष्यता के वर्तमान स्वरूप से मुक्ति। प्रेम की वेदान्तिक साधनामय अनुभूति या सूफ़ियाना लय से मुक्ति। उसका नया स्वरूप, नया अन्वेष...व्यक्तित्व की सम्पूर्ण स्वतंत्रता। इससे अलग कोई भी चाहना बीसवीं शताब्दी के एक विचारशील कवि के लिए प्रेम का अपमान भी है। क्योंकि प्रेम दो स्वतंत्र व्यक्तित्वों का समानान्तर चलता हुआ एक 'मौन मधु' अनुभव है, वह मनुष्यता की मुक्ति का एक नया अन्वेष है। एक साझेदारी है, न कि अन्ततः एकात्म-विलय। पुराने और नए में यही फ़र्क है :

दोनों निर्झर कैसे लगते हैं आसपास
जब दोनों की युग-प्रात एक, युग-निशा एक
है एक जबकि दोनों की मंज़िल, दिशा एक
वे एक-दूसरे की मंज़िल बन गए आप
वे एक-दूसरे को नीले-नीले अनन्त-से लगते हैं।

मुक्तिबोध अपने को अपनी एक कविता में 'तम-विशेषज्ञ प्रज्वलन्त मन' कहते हैं। वह तो सच है।

लेकिन मुझे अपनी इस व्याख्या पर कुछ-कुछ सन्देह भी है।

कहीं यह 'क्रान्ति' और कवि के आपसी अन्तर्सम्बन्धों का आख्यान-प्रतीक तो नहीं है? और कवि उस 'कंचन-रेखा', 'रश्मि शलाका' से अपनी वैचारिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का सर्वेक्षण और सन्धान तो नहीं करता है?

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों–यानी दाम्पत्य और प्रेम के बारे में अपने नितान्त निजी अनुभवों और दुर्घटनाओं को मुक्तिबोध ने जगह-जगह अपने पत्रों में व्यक्त किया है, ख़ासकर नेमिचन्द्र जैन को लिखे अपने पत्रों में। इन पत्रों में जो उनकी भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं उनसे उनकी मानसिक उठापटक का पता चलता है : 'ईश्वर करे अब कोई लेखक शादी न करे, और करे तो घर-गिरस्थी के चक्कर से ख़ुदा उसे मुआफ़ रखे। घर-गिरस्थी एक बला है, जिसके दो सींग हैं, जो गधे के होते हैं।'...'The intrusion of a woman in my life had sped up that frustration. She has been the prime force of moulding my life in a

way that suited frustration best.' ...'Either I should not have come to this world, or should have been a bachlor throughout, love for me has become a source of tragedy – that is life.' ...'With an unshaven face and carless collars on an indifferent sort of coat...with pity and pathos and a mock (of girls), the Prophet dances a Bhill-dance of pain in my soul.' ...'The other item is a woeful tale of failures. And that item is WOMEN. The most interesting thing is this that they make approaches, rouse the absent-minded man from his emotional slumbers, play with his feelings with a wilful persistence, and when not attended to, feel sad-and gloomy and what not' ...'There is no contradiction between domestic love, socialist cause or literary spirit. One leads to another.'

इन पत्रों में प्रेम–व्यक्तिगत स्त्री सम्बन्धों–को लेकर एक अजीब तरह की निराशा है। स्त्रियों के व्यवहारों, अपनी विपन्न स्थिति और-प्रेम-विवाह के अपने निराशाजनक अनुभवों की तस्वीर इन आत्म-स्वीकृतियों में झलकती है। एक सरल, सहज हृदय मनुष्य के आन्तरिक सुप्त आवेगों को जगाने और फिर एक खिलवाड़ करने की कारुणिक छोटी-छोटी गाथाएँ इन आत्म-स्वीकृतियों में व्यक्त हुई हैं। कवि मुक्तिबोध से अलग एक सामान्य मनुष्य–मुक्तिबोध–के अन्तरतम की भीतरी तस्वीरें यहाँ खुली हैं। विवाह और गृहस्थी को लेकर जो आर्थिक झंझटें हैं वे कवि-मानस, एक संवेदनशील लेकिन असमर्थ व्यक्ति को कितना और कैसे-कैसे तोड़ती हैं, इसकी झलक इन कन्फ़ेशन्स में है। और ये बातें एक संघर्षरत मध्यवर्गीय समाज में आमफ़हम हैं। ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध विपन्नता से लड़ते हुए, घर-परिवार को बचाए रखने में हलकान, अपनी पूरी ज़िन्दगी सर्फ कर देनेवाले लोगों के प्रतीक-पुरुष हैं। सम्भवतः इसी नुक़्ते पर मुक्तिबोध ने इन निजी झंझटों का प्रतीकीकरण अपनी कविताओं में किया। जो स्थूल और भौतिक स्तर पर सम्भव नहीं हुआ उसे विचारों और प्रतीकों के उत्थान में सम्भव होने से कौन रोक सकता था! 'मालव निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा' की प्रतीकित क्रान्ति-शिखा हो अथवा 'गुँथे तुमसे बिंधे तुमसे' की सत्+चित्+वेदना हो, यह कहना कठिन है कि वे मात्र प्रतीक-कथाएँ हैं या प्रेम का दबा-ढँका, ससंकोचित प्रतीकीकरण है। इन कविताओं पर कोई एक निर्णय-निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता। जैसे कि 'गुँथे तुमसे बिंधे तुमसे' जैसी कविता है। मुझे यह भी लगा कि यह एक बहुत सुन्दर, कोमल, विराट, सार्वदेशिक प्रेम-कविता है। लेकिन दूसरे ही पाठ में यह भी लगने लगा कि यह de-class होने के अनुभव और उपलब्धि, परिवर्तन और आत्म-चरित्र विकास,

और एक नए वैचारिक-दार्शनिक व्यक्तित्व के अंगीकरण की कथा अधिक है। लेकिन फिर शिव और पार्वती, धवल कैलास और सूर्य और चन्द्रमा जैसे मिथिकल बिम्बों का प्रयोग और कवि की ओर से उठाई गई एक 'कुहरीली छवि' किस ओर संकेत करती है। बार-बार लगता है कि कथ्य-संकेत कुछ और है और प्रतीक-संकेत जानबूझकर कुछ और। मुक्तिबोध ने श्रीकान्त वर्मा को लिखे अपने एक पत्र में अपनी कुछ कविताओं के लिए जो यह कहा है कि 'वे जीवन के उलझन भरे चित्र हैं', वह बात यहाँ भी लागू होती है। आप एकमत होकर यह नहीं कह सकते कि वे प्रेम के चित्र हैं या प्रेम-कथन कविता में मात्र एक प्रतीकित व्यवस्था है, जैसे यहाँ 'धवल कैलास' का ज़िक्र है, मुक्तिबोध के प्रिय कवि प्रसाद जी भी 'मनु' के लिए उसी भौगोलिक लेकिन मिथिकल कैलास को शरण्य बताते हैं। मुक्तिबोध में वह कुछ दूसरे ढंग से आता है। वहाँ वह उन्नत, नए, प्रगतिशील, आत्मिक विचारों का धवल (बर्फ़ से ढँका) कैलास है, जहाँ इस नव-व्यक्तित्व के फलित 'निष्कर्ष' का जल पीकर आत्मा सन्तृप्त हो रही है। उसके अगले फलागमों और नियताप्तियों के भी संकेत हैं। क्या छोड़ना पड़ेगा, इसकी भी एक रूपरेखा है। लेकिन कन्दराएँ मुँह खोलकर चिल्ला रही हैं कि 'आधे रास्ते कभी तय नहीं किए जाते'। अतः यहाँ प्रेम तो एक कोमल रूपक-मात्र है–विचारों की वेदना से एकात्म होने का–गुँथने और परस्पर बिंध जाने का। लगता है, जैसे यह अर्द्धनारीश्वर का बिम्ब है। मुक्तिबोध जानते हैं कि 'गुँथे तुमसे बिंधे तुमसे' कहकर शुरू में ही जो सांगरूपक उन्होंने डाल दिया है, वह 'धवल कैलास' तक जाएगा ही। इस तरह प्रेम के अर्द्धनारीश्वर के रूपक में यह 'प्रथम दो विद्रोहियों' की कैसी कोमल-कठिन सान्द्र और मर्मवेधी गाथा है जो अन्ततः 'ग्रहण' (असफलता, अलगाव, एक ट्रेजेडी) तक पहुँचती है। शरतचन्द्र मुक्तिबोध 'मेरे बड़े भाई' में यही तो कहते हैं कि 'भाई साहब rebel थे अतः isolated भी थे। यह 'ग्रहण' का बिम्ब भी isolation से आया है :

उलझे हुए त्रैराशिकों के आँकड़े
जब-जब कहा
तब-तब ग्रहण लगने लगा
इस सूर्य को उस चन्द्र को।

यद्यपि कि इस कविता पर 'कामायनी' की पूरी कथा का प्रतीकात्मक प्रभाव है, फिर भी अपने अन्त में यह 'जड़-चेतन की समरसता' की कथा न होकर 'उलझनों

के ग्रहण' का एक ट्रैजिक बिम्ब है। मानवीय संवेदनाओं की प्रतीक कथा के रूप में व्यंजित होने की ओर तो प्रसाद जी ने भी 'कामायनी' की भूमिका में इशारा किया है लेकिन फिर भी वे बलपूर्वक उसे 'आनन्द' और 'समरसता' की ओर ले जाते हैं। उनका प्रतीक-यज्ञ पूरा होता है, मुक्तिबोध के प्रतीक-यज्ञ को 'ग्रहण' लगता है, वह एक ट्रेजेडी का सृजन करता है। यहाँ प्रतीक बिम्ब ही मिथकीय हैं। वे केवल कथ्य में नियोजित हैं, साध्य नहीं। उनका दार्शनिक तानाबाना 'शैववाद' में नहीं, एक आधुनिक विद्रोह की कथा से बुना गया है, जिसका विघटन आज के पूँजीवादी समाज में होता है।...क्या इसी कविता की अगली परिणति 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' है?

ज़माने का चेहरा

सम्पादक (श्री नेमिचन्द्र जैन) के अनुसार मुक्तिबोध की अन्य कई कविताओं की तरह यह कविता भी लगातार 1950-57 के बीच लिखी और परिवर्तित-परिशोधित की जाती रही। नेमि जी के अनुसार यह कविता भी सम्भवतः अपूर्ण है। हिन्दी में लिखी गई द्वितीय महायुद्ध पर सम्भवतः यह सबसे लम्बी और सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है। कई-कई अन्तर्कथाएँ, घटनाएँ, सामान्य लोक-मिथकों और आत्म के वैचारिक संश्लेषण से यह कविता तैयार की गई है। इसकी उठान और इसके भीतर आए वृत्तान्त एक संक्षिप्त महाकाव्य का रूप लेते जान पड़ते हैं। मुक्तिबोध की सारी राजनीतिक कविताओं से यह कविता थोड़ी अलग है क्योंकि उसका आधार बाकायदा इतिहास की एक परिघटना (द्वितीय विश्वयुद्ध) है। इस ऐतिहासिक आधार के कारण मुक्तिबोध कई तरह के संकटों में फँसते हुए दिखाई देते हैं। जैसे कि इस कविता के उत्तरार्द्ध भाग का पाठ तब तक नहीं पूरा होता जब तक 'रचनावली' के छठे भाग में संकलित मुक्तिबोध के राजनीतिक आलेखों पर हम नज़र न डालें। वे आलेख ही मुक्तिबोध की इस विराट महाकाव्यात्मक, बहुमुखी ऐतिहासिक चेतना-संवेदना की ओर इशारा करते हैं। 'फ्रांस किस ओर' 'अंग्रेज़ गए परन्तु इतनी अंग्रेज़ी पूँजी क्यों', 'समाजवादी समाज या अमेरिकी-ब्रिटिश पूँजी की बाढ़', 'मिस्र के विरुद्ध इतना रोष क्यों', 'पश्चिम एशिया का चकमक पत्थर', 'नाटो के नाटक का नया दौर', 'अल्जीरिया की गुत्थी', 'पश्चिमी राष्ट्रों की लँगड़ी नीति', 'अर्जेंटीना के विद्रोह की तस्वीर', 'सुएज़ नजर का राष्ट्रीयकरण', 'एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रवाद का संयुक्त मोर्चा', 'अरब नीति में लचीलेपन की ज़रूरत', और 'बग़दादी राजनीति का चक्कर'–ये आलेख मुक्तिबोध के तीव्र संवेदनशील राजनीतिक दृष्टिकोण की गवाही देते हैं। ये सारे आलेख उनके द्वारा सम्पादित 'नया ख़ून' और एक दूसरी पत्रिका 'सारथी' में छद्मनाम से छपे। 'अल्जीरिया की गुत्थी' वाले आलेख में मुक्तिबोध लिखते हैं, 'अल्जीरिया में बसे हुए फ्रांसीसी ज़मींदार और सामन्ती वर्ग

का गहरा सम्बन्ध फ्रांस की फ़ौज और पुलिस के उन सर्वोच्च परिवारों से है जिनके हाथ में देश का पूरा अर्थ-तंत्र है।...इसलिए यह एकदम ज़रूरी है कि अल्जीरिया में विशाल फ्रांसिसी ज़मीदारियाँ पहले समाप्त की जाएँ। देश की तमाम म्युनिसिपैल्टियों पर इन ज़मींदारों का प्रभुत्व है, इसलिए इन्हें भंग किया जाए। अरब राष्ट्रवादियों को अपने अख़बार निकालने की पूरी सुविधा दी जाए, जिससे वे खुलकर अपना मत प्रकट कर सकें।...क्योंकि मौजूदा हालात में सभी नरमपन्थी उग्रपन्थियों से मिल गए हैं और अल्जीरिया में एक अभूतपूर्व एकता पैदा हो गई है।' इसी 'अल्जीरियाई ख़ून' के बारे में 'भारतीय अदृश्य लेखकों के हज़ारहा मज़मून' लिखे जा रहे हैं। कविता का लगभग अपूर्ण अन्त इसी 'अल्जीरियाई ख़ून' के बहने से होता है। मुक्तिबोध अपने आलेख में एक सधे हुए पत्रकार की तरह अल्जीरियाई समस्या के हल के लिए कई विकल्प भी सुझाते हैं। हम जानते हैं कि उस युद्ध में अल्जीरिया की जीत हुई थी। इसीलिए मुक्तिबोध कविता के इस अपूर्ण अन्त में कहते हैं :

भीषण बहुत है वह अंधड़ और बवंडर
आसमानी नीले रेगिस्तान में
बहा रहा है या कि उड़ा रहा है जो कि
अस्तप्राय साम्राज्यवादी पशु-सूर्य की
अधकटी
किन्तु फिर भी लड़ती हुई
आधी देह।

एक लोक-मिथक से शुरू होकर यह कविता एक पौराणिक मिथक (कबन्ध) में ख़त्म होती है। मुक्तिबोध की दूसरी लम्बी कविताओं की तुलना में यह कविता कुछ कमज़ोर पड़ती है क्योंकि यह शुद्ध राजनीतिक कविता है। यद्यपि मुक्तिबोध ने अपनी शैली, बाह्य मुखरता, उत्तेजक ध्वनि-समूहों के सजग और आवर्तित प्रयोगों द्वारा उसे 'भाव का इतिहास' बनाने का अथक परिश्रम किया है। कविता की संरचना में उन्होंने सात वर्ष खपाए। इस लम्बी अवधि में कविता के परस्पर भिन्न वृत्तान्तों के बारे में वे क्या कर रहे होंगे? कविता की विवरण-प्रधानता को अपनी संरचित बिम्बमालाओं से धुँधला और थोड़ा अमूर्त करने का अथक प्रयास। विश्वयुद्ध के विवरणों और अपनी बिम्बमालाओं की अथक खींचतान में वे लगे रहे होंगे–एक थका देनेवाली एकान्तिक कोशिश, जिसमें कविता गद्य-विवरण या युद्ध का एक

स्थूल वृत्तान्त बनने से बची रहे। बची रहेगी तभी वह कविता भी बनी रहेगी–एक संरचना, एक भावोच्छल, उत्तेजक, अर्थ-गर्भित बिम्ब-योजना, जिसमें इतिहास सिर्फ़ रीढ़नुमा एक कंकाल है, एक काला कैनवस, जिसमें मांस-मज्जा और रक्त-संचार, जिसमें विविधवर्णी कवि-मानस की उक्तियाँ और विचार-सम्पदाएँ कवि को प्रस्तुत करनी हैं। यह काम आसान हो जाता, अगर कविता में आत्म-संवेदन को प्रविष्ट कराने की गुंजाइश होती। लेकिन स्थूल ऐतिहासिक घटनाओं का तारतम्य उसमें बुनियादी तौर पर बाधक बनता है। जहाँ कवि ने एक घटनात्मक (दुर्घटनात्मक) इतिहास का आधार ले लिया वहीं वह अपनी समृद्ध कल्पनाशीलता का हाथ कटा बैठा। अब उन ऐतिहासिक शब्द-कोशों में से हो या उनके सीमान्तों से ही, उसे अपने बिम्ब-संयोजन को छेद करके अन्दर घुसाना है। यही मुक्तिबोध करते हैं और रचना-प्रक्रिया की इसी तकलीफ़देह अन्धी गली में फँस जाते हैं। अपने एक निबन्ध 'एक लम्बी कविता का अन्त' में वे कहते हैं (यद्यपि कि वह निबन्ध इस कविता के बारे में नहीं है।) 'कविता के भीतर की नाटकीयता वस्तुतः भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार कविता के भीतर का कथा-तत्त्व भी 'भाव का इतिहास' है।' इतिहास इतिहास न रहे, 'भाव का इतिहास' बन जाए, यही जद्दोजहद है इस लम्बी कविता में। तब कैसे किया जाए? मुक्तिबोध अपने पूर्वोक्त निबन्ध में लिखते हैं, 'तो फिर ऐसी स्थिति में यह असम्भव नहीं है कि कविता को अनेक 'क्रमबद्ध गद्य-चित्रों' में प्रस्तुत किया जाए। अथवा अनेक गद्य-चित्र कुछ इस तरह आलोकित और दीप्तिमान हो उठें कि छन्द बन जाएँ, गतिमान हो जाएँ और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो सकें।' इस कविता में मुक्तिबोध के भीतर यही द्वन्द्व है, यही फँसाव है और यही उत्तेजना का कारक भी है। यानी इस कविता को भी कवि ने 'कुछ क्रमबद्ध गद्य-चित्रों' को 'आलोकित, दीप्तिमान और गतिमान' करके एक विशेष दिशा यानी कविता के लक्ष्य-सन्देश की ओर प्रवाहित करने का काम किया है। जब-जब ये गद्य-चित्र लड़खड़ाते (या खड़खड़ाते) हैं, कवि पलटकर कोमल शब्द-पदावलियों की ओर जाता है या उसे आत्म-संवेदन के बिलकुल निजी चित्रों की ओर खींच लाने के प्रयास में जुट जाता है :

भारतीय धनतंत्री
जनतंत्री बुद्धिजीवी
स्वेच्छा से उसी का कुली है।

अथवा

साम्राज्यवादियों का पाशविक ताव यह
भविष्य को बढ़ाने ही नहीं देगा जब तक
कि उसका न नाश हो
इसी सोच-सोच में
लिखता ही जाता हूँ
कविता की पंक्तियाँ।

अथवा

भारतीय ग़रीबी के हृदय का तन्तु मैं
अकुलाया किन्तु मैं
बहुत रोया मैं
ग़ुलाम है आज की भारतीय फ़ौज भी।

इस कविता का एक दूसरा दार्शनिक-वैचारिक-राजनीतिक पक्ष भी सोचने को विवश करता है। मुक्तिबोध ने सन् 1942 ई. में कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् '42 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का एक तरह से बहिष्कार किया था। उनकी नीति थी कि क्योंकि विश्वयुद्ध नात्सियों के ख़िलाफ़ है अतः हमें इस युद्ध में Allied Forces का समर्थन करना चाहिए, क्योंकि नात्सियों द्वारा चलाया जानेवाला यह युद्ध विश्व-मानवता के सर्वनाश पर तुला हुआ बैठा है और नस्लीय श्रेष्ठता तथा यहूदियों के नरसंहार के विचार से जर्मनों और उनके समर्थकों (जापान और इटली) द्वारा लड़ा जा रहा है। अज्ञेय 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में जेल जाने की जगह भारतीय फ़ौज में भर्ती होकर युद्ध के पूर्वी मोर्चे पर लड़ने के लिए चले गए। बाकी कम्युनिस्ट लेखकों ने भी गांधी जी के (या कांग्रेस के) नेतृत्व में चलाए जानेवाले आन्दोलन में कोई शिरकत नहीं की। कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य होने के बावजूद मुक्तिबोध का नज़रिया इस पूरी ऐतिहासिक परिघटना पर अजीब ढंग से अन्तर्विरोधी है और यह अन्तर्विरोध ही 'सत्य की झाँई' की तरह उनके भीतर चिलचिलाता है। एक ओर वे विश्वयुद्ध में स्तालिनग्राद के घेरे और घनघोर युद्ध का वर्णन करते हुए सोवियत वीरों की विजय का सोल्लास, भरपूर स्वागत करते हैं (सन् '53 में 'बी. स्तालिन' कविता में स्तालिन की अन्धाधुन्ध प्रशस्ति भी, स्तालिनग्राद मे घेरे में स्तालिन की अगुआई में लड़े गए विजयी युद्ध से स्तालिन की 'नायक' जैसी जो छवि बनी, उसी हैंगओवर

के कारण है।) तो दूसरी ओर निर्मला (एक सामान्य भारतीय स्त्री) का पति और उनका मित्र जो युद्ध के मोर्चे पर है, वह सही-सलामत लौटेगा भी या नहीं, इसके लिए 'बहुत अकुलाते' और रोते हैं और कहते हैं कि 'भारतीय ग़रीबी का मैं जो एक तन्तु हूँ' मैं जानता हूँ कि भारतीय फ़ौज एक ग़ुलाम फ़ौज है और विश्व-मुक्ति में उसकी हिस्सेदारी का क्या अर्थ जबकि भारत एक ग़ुलाम देश है और Allied Forces में हमें ग़ुलाम बनानेवाला ब्रिटेन भी शामिल है। ऐसे में नात्सियों के विरुद्ध लड़े जानेवाले इस युद्ध में ग़ुलाम भारत और ग़ुलाम भारतीय फ़ौज के समर्थन का क्या अर्थ है? जबकि क़त्लो-ग़ारत भरे विभाजन के समाचार आ रहे हैं और गांधी जी गिरफ़्तार हैं। अब विश्वयुद्ध के बारे में या कांग्रेस नेताओं और गांधी जी की गिरफ़्तारी के बारे में भारतीय कम्युनिस्टों के नज़रिए से मुक्तिबोध का यह नज़रिया मेल नहीं खाता, बल्कि बिलकुल उलट है। यही द्वन्द्व है कवि मुक्तिबोध और कम्युनिस्ट मुक्तिबोध के मानस में और इस द्वन्द्व के कारण ही यह कविता कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों और विचारों का दस्तावेज मात्र न बनकर विश्व-इतिहास और भारतीय आज़ादी की लड़ाई की एक द्वन्द्व-भरी महान गाथा बन जाती है :

चिमूर में, आष्टी में नारियों से अंग्रेज़
फ़िरंगी फ़ौजियों का बलात्कार
गांधी थे गिरफ़्तार
फ़िरंगी फ़ौजों की टोलियों की
गोलियों की बौछार!
मैदानी पवन में काँपते थे सुबह से
ख़ून-सनी ज़िबह से
सम्भावी भारतीय
विभाजन समाचार।

द्वितीय विश्वयुद्ध पर इतनी लम्बी, सशक्त और बहुआयामी कविता तो हिन्दी में दूसरी नहीं है। उसका पहला दृश्य तो नात्सी युद्ध का वर्णन और संघर्ष है लेकिन ब्रिटेन + फ्रांस + अमेरिका के साम्राज्यवादी चरित्र से मुक्तिबोध भलीभाँति परिचित हैं और युद्ध के अपने वर्णन-वृत्तान्त के दौरान भी उन पर टिप्पणी करने से नहीं चूकते। यहाँ तक कि विश्वयुद्ध के ख़ात्मे के बाद इन नए साम्राज्यवादी मंसूबों के सँपोलों के सरसराने की ख़तरनाक आहट को भी मुक्तिबोध कविता में व्यक्त

करते हैं बल्कि कविता के उत्तरार्द्ध में तो यही कविता की मुख्य अन्तर्वस्तु बन जाती है। अतः कविता का अन्तःफलक सिर्फ़, विश्वयुद्ध में नात्सी फ़ौजों और फासीवाद की पराजय से ही नहीं बनता, नए प्रकार के साम्राज्यवादी युद्ध की आहट-अकुलाहट और उसमें इन साम्राज्यवादियों (जो अपने को विश्व-मुक्ति का नेतृत्व करनेवाला कहते थे) की पराजय से भी बनता है। यह इस ज़माने का नया चेहरा है जो फ़क है, स्तब्ध है, पसोपेश में है। मुक्तिकामी युद्ध 'साँवली हवाओं में' नई ग़ुलामी का–एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और अरब राष्ट्रीयताओं को ग़ुलाम बनाने के इरादे से इतिहास की धुन्ध में टहल रहा है। यही मुक्तिबोध के 'इतिहास का अननुमानित' है, जो इस कविता के लिखे जाने के 50 वर्ष बाद भी एकध्रुवीय तानाशाही में रंग लाने वाला है। यही वह भविष्य की धुन्ध है जिसकी भविष्यवाणी करना कवि के लिए कठिन है। जो वर्तमान के पटल पर है, वह आगे की ओर धुन्ध में लिपटा है। यही कवि का वह 'मस्तिष्क-गुम्बद-तिमिर' है जिसमें अब सैकड़ों पालतू ख़याल अकस्मात् पंख फड़फड़ाकर अपने घोंसलों से गिर रहे हैं।'

मैंने ऊपर कहा है कि कविता की इस ऐतिहासिक वृत्तान्त-कथा में अगर मुक्तिबोध अपनी बिम्ब-संरचना के फ्रिल्स नहीं डालेंगे तो कविता स्थूल गद्य-कथा में बदल जाएगी। इन बिम्बों के कारण कविता एक सघन चित्र-छवि बन पाती है। जैसे कि युद्ध-भूमि में योरोप के आसमान में जिस 'मृत्यु की सर्दी के बर्फ़ीले चाँद' का बिम्ब वह रचते हैं वह नेपोलियन और रूस के युद्ध ('युद्ध और शान्ति'–टॉल्स्टॉय) में (1805) युद्ध-भूमि में मूर्च्छित आन्द्रेई जैसे मूर्च्छा हटने पर अपने देश के आकाश में उगे हुए शान्त-सुन्दर चाँद को देखता है और उसे जीवन के सौन्दर्य का अहसास पहली बार होता है, उस शान्तता और जीवनेच्छा से मुक्तिबोध का यह चाँद योरोपीय आसमान में ठिठुरते उस चाँद से बिलकुल भिन्न है। यह भयावह है। उसकी उपमा मुक्तिबोध लन्दन के बैंकरों और शिकागो के पूँजीपतियों की 'गंजी चाँद' से देते हैं। शोषण, तिकड़म, बदमाशी और 'भद्रता' की मिली-जुली चमक-सा चाँद, जिसके भीतर ठंडी मृत्यु चमक रही है :

संस्कृति के मुख पर
रुधिर की धाराओं का
गिर गया परदा।

युद्ध 'संस्कृति' के साथ क्या सलूक करता है? वह ख़ून का परदा डालता है, वह उसे रक्त-रंजना से ढँकना चाहता है। यहाँ यह ख़ूबसूरत बिम्ब है। मुक्तिबोध प्रकृति, जीवन, राजनीति, विचार, समाज और मनुष्य के चेहरों, भावों और तात्कालिक घटती हुई घटनाओं में से नए बिम्ब गढ़-रच लेते हैं। यह हिन्दी कविता में एक बिलकुल नई प्रवृत्ति है। इसमें परम्परागत काव्य-परिपाटी से वे कुछ नहीं लेते। युद्ध की भीषणता का आभास पैदा करने के लिए कवि ने जो शब्दान्वेषण किए हैं (पुरानी, द्वित्व शब्दों की प्रणाली–चमक्कइ-धमक्कइ इत्यादि) वे पूरी कविता में फैले हुए हैं :

बर्लिन के टैंकबाज़
बर्लिन के बमबाज़
लोहे के हाथों से योरोपीय
वक्षों की अस्थियाँ तोड़
जंगल में जलाते थे सिगड़ी
व बनाते थे चाय।

स्तालिनग्राद के युद्ध और विजय का वर्णन करते हुए मुक्तिबोध एक सच्चे कम्युनिस्ट कवि की तरह सचमुच भावुक हो उठते हैं। 'अविजेय स्तालिनग्राद' को चित्रित करते हुए वे शान्ति पथ पर चलने और चाहनेवाले विश्व-नागरिकों की विजय के रूप में इसका अंकन करते हैं। वह विजयी सैनिकों की लौटती हुई स्मृति में 'हरे-भरे साँवले खेतों के विस्तार', 'सुकुमार प्रियतमा नताशा के नैनों की मुस्काती छवि' और 'नन्हे एल्योशा के गालों की ललाई' की स्मृति के साथ सम्पूर्ण विश्व-पर्यावरण के श्यामल सौन्दर्य को चित्रित करते हैं :

...दूर...उधर समय-पहाड़ पर
क्षितिज दहाड़ा और
जनता के हाथों ने यों मौत को पछाड़ा है कि
दुनिया उलट गई
ज़िन्दगी पलट गई...
योरोपीय राख और
एशियाई खाक से
जनता की शक्ति का दरख़्त उठा है एक
मानवीय मुक्ति का देव एक

वर्तमान-भविष्य के दृश्य रहा आँकता
घर-घर में माँ के पास
घर-घर पिता के पास
मिलन के आँसुओं का अनन्त अभिषेक
विश्व हुआ है एक।

लेकिन इस विश्व-एकता के बाद की ऐतिहासिक स्थितियों और साम्राज्यवादियों के महत्त्वाकांक्षी और नए युद्ध, एशिया को काबू में करने के लिए नए षड्यंत्रों की शुरुआत के प्रति भी कवि अत्यन्त उत्तेजक ढंग से सचेत है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आनेवाली इस तीसरी लड़ाई (जो आज सारी दुनिया में पसरी हुई है।) की आहट से ही मुक्तिबोध इस कविता का अन्त करते हैं...या शायद अन्त नहीं करते, अधूरी ही छोड़ देते हैं, जैसा कि नेमिचन्द्र जैन कहते हैं :

दरअसल मुक्तिबोध की सारी कविताएँ 'ज़मानें के इसी चेहरे' का विशद चित्रण हैं। इस चेहरे को वे तरह-तरह से उकेरते-आँकते हैं। तरह-तरह की फन्तासियों, तरह-तरह के स्वप्न-चित्रों का निर्माण करते हैं। ज़माने का यह जो विशद चेहरा है उसे पूरी तरह सामने लाने के लिए कविता का अब तक का परम्परित ढंग पूरा नहीं पड़ रहा है, अतः मुक्तिबोध नई-नई बोध-कथाओं, स्वयं रचित मिथकों को गढ़ते हुए कविता का ताना-बाना फैलाते हैं और ज़माने के इस विशाल, राक्षसी चेहरे को अंकित करते हैं। इस तरह मुक्तिबोध का काव्य-रंग हिन्दी में (और सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय काव्य में) अनूठा है। वह इतना मौलिक और कठिन है कि उसका अनुगमन किसी भी दूसरे कवि के लिए सम्भव नहीं। इसीलिए, देखिए कि मुक्तिबोध हिन्दी में अपनी तरह के अकेले कवि हैं। हिन्दी कविता में यह एक-दूसरे प्रकार से मुक्तिबोध का एकान्तीकरण है। वे अकेले अपने विशद एकान्त में हैं। क्या जीवन में, शास्त्र में, विचारों में, अपने भोलेपन में वे जिस तरह से 'अकेले' हैं, वैसा ही स्पेस उनके अनजाने ही उनकी कविताओं ने भी उनके लिए रचा है? यह सब बड़ा विचित्र है। हिन्दी कविता में सभी कवियों के लिए एक आधार है, मुक्तिबोध के लिए कोई नहीं। उनकी कविता की कोई परम्परा उनके पीछे या उनके आगे भी नहीं है। कविता में यही उनका एकान्तीकरण है। पाठक या आलोचक के ऊपर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है? वह अपना परिचित, अपने काव्य-संस्कारों, अपने संवेद्य सहृदय-तत्त्व के अनुकूल एक संसार ढूँढ़ता है। सहसा उसका सामना कविता के एक अपरिचित संसार से होता है जहाँ वह 'वीरान हवा' सूँघता हुआ

सहसा नए मिथकों, बिम्बों, शब्दावलियों से घिर जाता है। तब वह क्या करे? मुक्तिबोध से मुठभेड़ इतनी आसान नहीं है। वहाँ 'रसिक' होना सम्भव नहीं, विचारों का धक्का लगना आम बात है। उस धक्के से सँभलने के बाद, अगर धैर्य है, तभी उनकी कविता में प्रवेश किया जा सकता है। तब लगता है कि यह कविता का वह कल्पित-कोमल संसार नहीं है, जिससे हम वेदों से लेकर आज तक की कविता की संस्कारवत् परिचिति से जानते हैं। तब हम उन्हें खोजते हैं, जानते हैं, पाते हैं। तब उनके बीड़ी सुलगाते हुए तिकोने, ज्यामितिक चेहरे के भीतर जो कविता का पथरीला, उत्तेजक, कठोर, रहमदिल बनता-बिगड़ता संसार है, उससे हम कुछ-कुछ संगति बिठाने लगते हैं। तब उनकी कविता में हमारी पैठ सम्भव हो पाती है। तभी इन बातों का अर्थ पहली बार हम पकड़ पाते हैं जिन्हें मुक्तिबोध के अलावा किसी दूसरे कवि ने कभी नहीं कहा :

जितनी ऊँचाई हो
अधःपतन उतना ही सहज है।
जीवन के तथ्यों का
सामान्यीकरणों का
करना ही पड़ता है असामान्यीकरण।
सुदूर नील का धुँधलापन ओढ़े हुए
आसमानी रंग का गिरि-रूप
धारण किए
भाव-विचार ये
उतने ही धुँधले से मनोरम, अस्पष्ट
उतने ही ठोस किन्तु
उतने ही दृढ़ रूप
उतने ही वस्तु-सत्य रूप हैं।

'इसी बैलगाड़ी को' में अब ये जो दो बैलगाड़ियाँ हैं वे दो वर्ग-सोच हैं। एक ही भाषा के दो अर्थ हैं, दो तरह की चिन्ताएँ, दो तरह के फँसाव, दो तरह के पर्यावरण हैं। द्विभाजित मनुष्यता की यह स्फटिक फाँक है जिसे एक अजीब से इस बिम्ब से मुक्तिबोध अंकित करते हैं :

अपन दोनों भाई हैं
और दोनों दुखी हैं।

क्षमा करो तुम मेरे बन्धु और मित्र हो
इसीलिए सबसे अधिक दुखदाई
भयानक शत्रु हो।

यह बात वर्ग-विभाजन का एक नया एंगिल (कोण) सामने लाती है। वर्ग-शत्रु की यह व्याख्या, यह कल्पना और यह सोच एक कम्युनिस्ट कवि की कलम से अनोखी लगती है। विचार के बने-बनाए खाँचों से अलग और चौंकानेवाली। जनता ही जनता की शत्रु है। भाई हैं, बन्धु हैं–पर शत्रु हैं। मार्क्स होते तो कवि की इस विचित्र कल्पना पर क्या कहते? वर्ग के भीतर वर्ग हैं, इस बात से कवि बहुत परेशान है। वैसे कविता बहुत साफ़-सुथरी है। मुक्तिबोध की दूसरी बहुत सारी कविताओं की तरह उसमें 'जीवन के उलझन भरे चित्र' नहीं हैं। लेकिन यह स्पष्टता ही आतंककारी है, एक नई तरह की उलझन पैदा करती है। एक ही वर्ग के भीतर दूसरे वर्ग की कल्पना या कथन विचार का एक नया कोण है। एक बैलगाड़ी पहाड़ पर चढ़ रही है–उन्नति, विकास की ओर अग्रगामी है। उसके भी ख़तरे हैं। वहाँ उसके भी शत्रु (डाकू) हैं। गिरने और असफल होने का भी डर है लेकिन एकता, पर्यावरण-परिस्थिति का उत्साह और दृढ़ता भी है। दूसरी ओर निहित स्वार्थों की लड़ाई है–उन्हीं स्वार्थों की नाली में अमूर्त विचारों, प्रवचनों की गाड़ी भी फँस गई है। वहाँ जो शत्रु हैं वे निहित-स्वार्थों से निहित-स्वार्थों के शत्रु हैं। यहाँ पहाड़ पर चढ़ते हुए जो शत्रु-डकैत हैं वे जन-मुक्ति के विरुद्ध लुटेरों के निहित-स्वार्थों वाले शत्रु हैं। पहला संघर्ष अमूर्त और अमूर्त के बीच है। दूसरा मूर्त और स्वार्थ के बीच। इतना फ़र्क़ कोई बारीक़ फ़र्क़ नहीं है।...सम्भवतः दोनों ही जनमुक्ति का संघर्ष लड़ रहे हैं–एक दिग्भ्रमित (शहर में) और दूसरा ठोस-दृढ़ वस्तु-सत्य पर आधारित। इस तरह 'भाई' और 'बन्धु' कहकर फिर 'शत्रु' कहते हुए मुक्तिबोध इस वैचारिक युद्ध को थोड़ा उलझा देते हैं। लेकिन 'वर्ग' के भीतर अगर 'वर्ग' हैं तो वे एक होते हुए भी अन्ततः एक-दूसरे के शत्रु होंगे। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक दौर की एक कविता 'जन-जन का चेहरा एक' में वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा एकदम शुद्ध और सरल है। वहाँ कोई उलझाव नहीं। 'दुनिया के मजदूरो, एक हो' वाला मैनीफ़ेस्टो का जो नारा है, वह कविता उसी का कविता-करण है। वह कविता एक सरल कथन है। लेकिन यहाँ मुक्तिबोध वर्गों के उलझाव, उनके जटिल-मिश्रित रसायन, वर्गों के भीतर वर्ग, इस आतंककारी परिकल्पना और यथार्थ-सत्य को शब्द-

बद्ध करते हैं। एक सिद्धान्त-कथन ('जन-जन का चेहरा एक') है तो दूसरी ('इसी बैलगाड़ी को') सम्पूर्ण यथार्थ। क्या आज की दुनिया का यह नंगा सच नहीं है कि वर्गों के भीतर भी वर्ग हैं? अगर ऐसा नहीं होता तो दुनिया के सारे कम्युनिस्ट आन्दोलनों की यह दुर्गति क्यों होती? लेकिन एक-दूसरे दृष्टिकोण से भी इस कविता को देखें। पहाड़ों पर चढ़ती यह बैलगाड़ी भारतीय अर्थव्यवस्था की भी गाड़ी हो सकती है–एक बैलगाड़ी की तरह खचर-खचर, हाँपती, हिलती आर्थिक विकास की ओर अग्रसर। लेकिन वहाँ भी लुटेरे हैं–स्वार्थ के लुटेरे। ये कौन हैं? ये वे शक्तियाँ हैं जो नव-अर्जित भारतीय स्वतंत्रता और उसकी आर्थिक उठान को बीच ही में तोड़-फोड़ देना चाहती हैं। यह शक्तिशाली साम्राज्यवादी दुनिया, यह उड़न पूँजी, यह कॉरपोरेट सत्ता के लुटेरे हैं जो आपके-हमारे आर्थिक विकास और स्वतंत्रता को अगल-बगल की किसी गहरी खाई में ढकेल देना चाहते हैं। बाहर से आकर नहीं, वे हमारे भीतर ही हमारे शत्रु पैदा करके उनकी मदद करते हैं। यही वर्गों के भीतर वर्ग का कल्पना-विचार है जिसे मुक्तिबोध कुछ यों कहते हैं :

काल-दिक्-नैरन्तर्य-शिखर से बोल रहा हूँ
ओ विराट के कथित खंड बनने वालो
आततायियो,
स्व-महत्त्वशालियो,
अरे, तुम्हारी छाया दूर नेब्यूला में भी
मैंने नापी
और, वही पाया जो सचमुच तुम हो
गटर-गिरे, मिट्टी के ढेले के स्पेक्ट्रम हो।
फिर भी मैं जीवित हूँ।
परम्परा-सा।

ये पंक्तियाँ उनकी एक दूसरी कविता 'भविष्यधारा' से उद्धृत हैं। कविता लगभग पाँच खंडों में विभाजित है। अपने एक आलेख 'अकेलापन और पार्थक्य' में मुक्तिबोध लिखते हैं, 'सुदूर भविष्यात् की भाँति सुदूरगत अतीत भी अत्यन्त आकर्षक किन्तु धूम्राच्छन्न होता है। अन्तर इतना है कि भविष्यत् वर्तमान की तूलिका से रँगा जाता है।...भविष्यत् की कल्पना हमारे मनोभावों पर अवलम्बित है।...अतीत हमारी समालोचना है, वर्तमान हमारा गतिमय काव्य है और भविष्यत्

हमारी आशा है।' पूरी कविता पाँच खंडों में विभाजित करके लिखी गई है। ये पाँच खंड हैं :

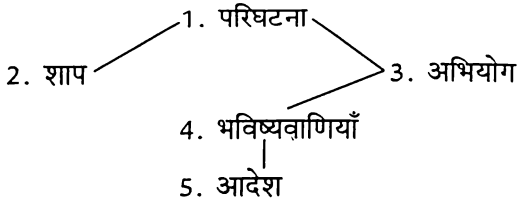

परिघटना में, यानी कविता के प्रारम्भ में ही एक स्व-निर्मित कथा दी गई है जहाँ कुछ लोगों द्वारा प्रयोगरत वैज्ञानिक को बेहोश करके या हत्या करके उसके 'नव आविष्कृत-समीकरण-सूत्रों' के खो जाने या चुरा लिए जाने का वर्णन है। फिर उस कमरे में कवि के झाँकने या प्रवेश करने का चित्र है। यह कविता की पृष्ठभूमि है, कैनवस का एक धूमिल रंग है जिस पर आगे वह अपने काव्य-चित्रों को उकेरता है। इस प्रथम खंड में कवि बहुत उत्तेजित और उद्विग्न है। वैज्ञानिक के आविष्कृत सूत्रों को ढूँढ़ने के लिए वह निकल पड़ता है। फिर खेलते हुए एक बालक के पास पाई गई चिन्दियों पर वह वैज्ञानिक के हस्ताक्षर से उसके द्वारा आविष्कृत 'काल्पनिक राशियाँ क्वांटम की' पाता है। इन्हीं 'गणितिक अंकों' को 'वैज्ञानिक की स्वर-भाषा में अनूदित करने' का काम करता है। दूसरे खंड में कवि का शाप है। फिर उसके अभियोग हैं तीसरे खंड में। यह अभियोग उन लोगों पर है जो पहले क्रान्तिकारी थे, अपने ही लोग थे, लेकिन लाभ-लोभ, यश-अहंकार के वश होकर उन्होंने अपने 'विचार-सिद्धान्त-आदर्श' जैसे आत्मजों को ही खा लिया। कवि ने उनकी आत्मा को 'शूकरी', 'मार्जारी' कहा है। फिर वे लोग अपने अनुभव का स्वदेश छोड़कर दूसरे शिविर में चले गए। यह वर्गान्तरण है, जिसे मुक्तिबोध अपने लेख 'अकेलापन और पार्थक्य' में और अपने पत्रों में, फिर श्रीपाद अमृत डाँगे को लिखे अपने लम्बे पत्र में भी व्यक्त करते हैं। यह वर्गान्तरण कवि के लिए अत्यन्त दुख का कारण है। इन्हीं स्थितियों में यह द्रष्टा कवि इन 'गए लोगों' का विवश होकर परित्याग करता है और फिर वह जनता के बीच 'नए अपने लोगों' की खोज करता है। वह अनुभव करता है कि यह सामान्य लेकिन चेतना-सम्पन्न जनता ही उसकी परम्परा है। वह अत्यन्त आत्मविश्वासपूर्वक कहता है कि 'मैं तुममें जीवित हूँ, मैं मरा नहीं।' वास्तव में यह कवि के भीतर स्थित वैज्ञानिक या उसके आविष्कृत सूत्र

बोल रहे हैं, जिनको अनूदित करते हुए कवि अपने कार्य को एक 'निर्वैयक्तिक सम्पादन मात्र' कह रहा है। दरअसल यह काव्य-कला की एक तिर्यक् सूझ है– अपने को 'निमित्त-मात्र' कहना। इन 'नए अपनों की खोज' को वह कैसे बयान करता है :

तुम तुच्छ और तुम क्षुद्र
किन्तु तुम रुद्र
कि तुम हो भीषण क्षोभ
अग्नि के हव्य
तुम काल-सिंह-आसनस्थ
तुम मेरी परम्परा हो प्रिय
तुम हो भविष्यधारा दुर्जय
तुममें मैं सतत प्रवाहित हूँ।
तुम मृत न मुझे समझो।

इसी 'भविष्यधारा' के प्रति 'भविष्यवाणियाँ' हैं जो कविता का चौथा खंड है। ये भविष्यवाणियाँ दुख, परिताप और शोषण के ख़िलाफ़ लड़नेवालों की स्थितियों का बिम्बात्मक विवरण हैं। यानी 'वर्तमान के गतिमान काव्य' से अतीत + भविष्य का अंकन है। अतीत में से चुनाव है जिसे अपने निज के वर्तमान में से कवि 'भविष्यधारा' के रूप में निर्मित करता है। दरअसल 'नए अपनों' के संघर्ष की जो दुर्दशाएँ हैं उसमें कवि का आत्म-चित्र या आत्म-प्रक्षेप भी है :

वह क्रियावान वेदना
तुम्हें भटकाएगी
चेहरे पर होंगे दाग़ स्याह-काले
तभी निज भद्र-वर्ग से होगे तुम बाहर
देहाती जैसे पैर
गठीले-रस्सीले होंगे।
अज्ञातवास बारह वर्षों का निश्चित है
तुम घर छोड़ोगे, पत्नी छोड़ोगे
पैसे-पैसे के लिए मरोगे
फाँकोगे तुम धूल राह की, औ खाओगे राख
रहोगे प्यासे-प्यासे

मन के सूरज की गर्मी से हो जाओगे खाक!
तुम दुनिया की लीक काटकर
कट जाओगे।

पाँचवें खंड में इन्हीं 'नए अपनों' के लिए आदेश है कि इस परम्परा को 'अजया भविष्यधारा' बनाने के लिए उन्हें क्या-क्या करना है :

आलीशान इमारत के पिछवाड़े पहुँचो
भागो, लपको, पीटो-पिटो
कि पियो दुःख का विष
उस मनुष्य-आमिष-आशी की जिह्वा काटो
पियो कष्ट, खाओ आपत्ति-धतूरा, भागो
विश्व तराशो, देखो तो उस दिश्
कलाकार से वैज्ञानिक फिर वैज्ञानिक से कलाकार
तुम बनो यहाँ पर बार-बार।

मुक्तिबोध का यह कवि–इसे वे 'अन्तर्मुख वैज्ञानिक' की संज्ञा देते हैं। यहाँ पर भी कथ्य के अनुरूप और उसके विकास में सहयोगी विविध-वर्णी लड़ियों का एक अत्यन्त जटिल संवेदनयुक्त और अर्थगर्भित प्रयोग करते हैं। कई बार एक उपमा चमकदार ढंग से आती है और फिर उसके भीतर से बिम्ब और वह बिम्ब अक्सर एक लम्बे सांगरूपक में परिवर्तित हो जाता है। इन बिम्बधर्मी सांगरूपकों के अन्तर्कथ्य का अन्तर्बोध बदलते ही मुक्तिबोध उसे छिन्न-भिन्न कर देते हैं और अचानक ही एक नया बिम्बात्मक विवरण उसका स्थान ले लेता है। अधिकांशतः उनकी शब्दावली कविता के बोध के साथ ही तात्समिक है। इसमें उनका महाराष्ट्री होना भी एक कारण है। लेकिन तात्समिकता के भीतर तद्भव, उर्दू-फ़ारसी की शब्द-लड़ी गूँथकर वे अपनी काव्य-भाषा का एक अनन्य, नवीन रूप खड़ा कर देते हैं। यह उनके समकालीन या बाद के भी किसी दूसरे कवि के लिए अत्यन्त कठिन है। एक-एक लड़ी को खरादने-सँवारने में अति-परिश्रम के कारण, काट-पीट पुनर्रचना की धुन–'तीसरे क्षण' के आवेग...इस तरह ये कविताएँ लगातार उनके मन-मस्तिष्क को खाती-पनपती रहती हैं। सन् '50 से '60-'62 के बीच वे कई कविताओं पर एक साथ काम करते दिखाई देते हैं और अधिकांश इनमें से आकार में लम्बी कविताएँ हैं। ऐसा लगता है कि स्वनिर्मित कथानकों के इर्द-गिर्द उनका मन-मस्तिष्क, काव्यात्मक ऊर्जा एक साथ काम करती रहती है। इसीलिए

उनकी सभी लम्बी कविताओं के भीतर एक भीतरी साम्य और एकरूपता भी लक्षित होती है। सारी लम्बी कविताएँ अपनी लयात्मक परिणति में किसी तांत्रिक के हरहराते उच्चाटन-मारण मंत्र की तरह उनका शब्द-क्रम, पंक्तियों का आकार-प्रकार भी ध्वनि-छन्द के रूप में एक नया आकार लेता नज़र आता है। वे अपनी इस सतत नवोन्मेषशालिनी संगीतिका में अनेक आलापों, तीव्र-मध्यमों, त्रितालों-झपतालों में चढ़ते-उतरते अनेकरंगी 'समों' की निर्मिति करते हैं। इस प्रयत्न में कथ्य के सूत्र अक्सर उलझ जाते हैं। यह उलझाव ही वह अन्तर्ग्रथित जटिल रचना-प्रक्रिया है, जिसे पाना या जिसका अनुकरण किसी भी दूसरे कवि के लिए असम्भव है। यह प्रक्रिया हिन्दी काव्य-भाषा की सीधी-सरल, एकरेखीय और सान्द्र-सुगम परम्परा के बिलकुल विपरीत है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि महान कवि दो तरह के होते हैं। एक–जिसकी एक परम्परा निर्मित हो और दो–जिसकी कोई परम्परा न बन सके। अज्ञेय पहली कोटि में आते हैं और मुक्तिबोध दूसरी कोटि के उदाहरण हैं। उनका काव्य-कर्म हिन्दी कविता की परम्परा में आगे-पीछे किधर से भी नहीं अँटता। इसीलिए अपनी सारी प्रसिद्धि और बौद्धिक वर्ग में लोकप्रिय होने के बावजूद, अपने अन्तर्कथ्य में वर्ग-संघर्ष का सबसे पुष्ट उदाहरण होने के बावजूद उनकी कविता का एकान्तीकरण हुआ है। वह अपने कोने में चुपचाप अकेले खड़ी है। वह rebel है revolutionary नहीं। मुक्तिबोध अपनी जीवन-पद्धति में जितने उत्तेजक, चमकदार, धुँधले और अवसादग्रस्त हैं, उसी तरह उनकी कविता भी। शायद जीवन और कविता बिम्ब-प्रतिबिम्ब की तरह हैं। उनकी कविता का रंग उत्तेजक रूप से साँवला है। शब्दों और बिम्बों की चमक भी अचानक एक साँवली धुन्ध से भर जाती है। इसीलिए उनकी कविता एक वृहद् बहुरंगी आत्मकथा है। वह उनकी रगों में उत्तेजित एक असाधारण धड़कन है जो उन्हें सतत बेचैनी में रखती है। 'गुप्त अशान्ति' और उद्वेलन उसका गुण है और अमरत्व उसकी आध्यात्मिक परिणति।

अगर कविता के अन्तर्कथ्य से मुख़ातिब हों तो ये उनके 'नए अपने' अपनी 'क्रियावान वेदनाओं' और संघर्षों के भीतर गुरिल्ला सैनिकों जैसे दिखते हैं। उनका चरित्र पूरी तरह एक गुरिल्ला का है और उनके हमले की धमक और उनको दिए गए 'आदेश' भी कवि-रूपी गुरिल्ला कमांडर की लगती हैं। उसके 'गए हुए अपने' जिनसे वह अत्यन्त सन्तप्त हैं, वे 'रेनीगेड्स' की कोटि में आते हैं। इस तरह अपने सारे बिम्ब-विधानों के भीतर कवि अत्यन्त सघन ढंग से गुरिल्ला युद्ध-

शैली की वकालत करता नज़र आता है। इसी तरह एक उनकी और कविता 'भाग गई जीप' है। इसकी अन्तर्वस्तु भी 'भविष्यधारा' के 'अभियोग' खंड से मिलता-जुलती है, जब क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों ने अपना पक्ष बदल लिया और कवि को अकेला छोड़ दिया। इस कविता में ठेलमठेल में भागने की, अपना पक्ष-विचार छोड़कर 'लाभ-लोभ की समझदारी' की तहत जल्दी से दूसरे पक्ष में पहुँचने की आपाधापी का जो बिम्ब है वह उन्हीं 'रेनिगेड्स' की ओर इशारा करता है। 'उन्नति के चक्करदार ज़ीने के ठेलमठेल' में लोग मर भी रहे हैं फिर भी विश्वासघात के लिए आकुल हैं। जीप के भागने में 'पक्ष' छोड़ने यानी वर्गान्तरण के लिए जल्दीबाज़ी का एक बिम्ब है। आगे चलकर कवि इस शीर्षक और कविता के प्रथम खंड के बिम्ब को त्यागकर 'बस मिस हो गई', इस मुहावरे का प्रयोग करने लगता है, जो सम्भवतः ज़्यादा मौजूँ और सही है। 'भाग गई जीप' कवि द्वारा सृजित सर्वथा एक नया बिम्ब है। शायद इस पर पूरा भरोसा नहीं है, क्योंकि 'बस मिस हो गई' तो जनता में चलता हुआ एक मुहावरा है।

●

तिमिर में समय झरता है

'अन्तःकरण का आयतन' कविता में यह बिम्ब है। मेरा ख़याल है कि काल या क्षण की जितनी भी परिकल्पनाएँ हैं, जो समय के बारे में आइंस्टीन या अन्य वैज्ञानिकों का कथन है या समय को भूत, वर्तमान और भविष्य के तीन ख़ानों में डालकर देखने की सनातन अवधारणा है–एक ऐसी अवधारणा जिससे इतिहास का निर्माण होता है, या पूरब के समय की जो वृत्ताकार अवधारणा है, जिसमें गया हुआ समय पुनः लौटता है, जिसे टी.एस. ईलियट अपनी उस ख़ूबसूरत कविता 'Time present and Time Past are contained in Time Future', समय के बारे में इन सभी विचारों से अलग, मुक्तिबोध अचानक एक बिम्ब की संरचना करते हैं। पहली नज़र में यह बिम्ब पूरी तरह मूर्त-अमूर्त का घालमेल लगता है। अँधेरे का तो एक रंग होता है–घने अँधेरे का रंग बिलकुल काला। लेकिन समय का तो कोई रंग-रूप नहीं होता। वह रंग-रूपहीन एक अदृश्य अवधारणा है। वह आतंककारी भी है क्योंकि हम उसके बारे में कुछ नहीं जानते। उसे देखना-सुनना या पकड़ना असम्भव है। कलाकार से वैज्ञानिक और वैज्ञानिक से कलाकार बनने की इस आवाजाही का जो स्वप्न मुक्तिबोध देखते हैं, जिस यूटोपिया का समाँ बार-बार अपनी अलग-अलग कविताओं में बाँधते हैं, उसमें इस बिम्ब का क्या अर्थ है? क्या यह बीतते हुए प्रगतिशील समय या दुख विपत्ति-शोषण के काले अँधेरे वृक्ष से समय के झरने, वर्षावत् रिमझिम का अदृश्य दृश्य है? समय जैसे किसी फुलझड़ी जैसा है क्योंकि उसके झरने की इस प्रक्रिया में उसमें से चिनगारियों का झरना निकल रहा है। अजीब कल्पना है कि अँधेरा एक वृक्ष है और उसका एक 'गहन अभ्यन्तर' भी है। यानी यह अँधेरा–मुक्तिबोध द्वारा परिकल्पित यह अँधेरा–पारम्परिक अँधेरे से भिन्न है। वह एक गहन अभ्यन्तर वाला वृक्ष है जिससे अनेक प्रकार की सुगन्धें भभककर निकल रही हैं। ये झरते हुए समय की सुगधिंयाँ हैं। समय से चिनगारियाँ झर रही हैं और उनमें ख़ुशबुएँ हैं और वे ख़ुशबुएँ अँधेरे के

वृक्ष की हैं। इस छोटे-से बिम्ब में अनेक अर्थों की रंग-छायाएँ हैं। और वे ऐसी हैं जिन पर शायद ही किसी कवि ने कुछ कहा हो। इस तरह की चित्र-विचित्र निगूढ़ और ताज़ी, अननुभूत और सर्वथा नई कल्पनाओं के धनी कवि हैं मुक्तिबोध। यह बिम्ब 'अन्तःकरण का आयतन' कविता में आता है। इसमें एक विचित्र प्रकार की फ़ैंटेसी की कल्पना कवि करता है। क्योंकि 'अन्तःकरण का आयतन' संक्षिप्त है, छोटा है, उसके भीतर सारा विश्व-दर्शन नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'अन्तःकरण' का संस्कार सार्वदेशिक, सार्वकालिक नहीं है। वह सीमित और एकांगी है इसलिए समस्त विश्व दर्शन के लिए, विश्व की सारी समस्याओं को आयत्त करने के लिए कोई दूसरा उपाय ढूँढ़ना पड़ेगा। तब कवि अपनी छाँह को सर्वगामी बनाता है। छाँह के रूप में अनन्त में उड़नेवाले एक पक्षी की परिकल्पना है। छाँह यानी 'सोच' यानी चिन्तन की एक प्रगल्भ कल्पना जो उड़ती हुई जगत्-दर्शन करती है। दर्शन के मायने कोई आध्यात्मिक दर्शन नहीं, जगत् का, विश्व-मानवता का दिग्दर्शन। देश-काल, पर्यावरण, मरते-खपते मनुष्य, युद्ध-संघर्ष, शान्ति और सुख और मानव-जाति के विकास की सीढ़ियाँ-यह देखना, इसको आयत्त करना कवि का लक्ष्य है। छाँह की उड़ान ही एक फ़ैंटेसी है, कविता के लिए कवि द्वारा अन्वेषित एक 'डिवाइस' है। इस तरह 'अन्तःकरण के संक्षिप्त आयतन' से कवि अपने को, अपनी कल्पना और अपने विचारों को मुक्त करता है। क्यों? क्योंकि 'अन्तःकरण के आयतन की संक्षिप्तता आत्मीयता के योग' नहीं है। अतः कवि-व्यक्तित्व के अनन्त प्रसार के लिए एक तरह के स्वप्न-चित्र, एक जादुई यथार्थ का सहारा कवि लेता है। फिर तो सारी पृथ्वी पर ही नहीं, दूसरे ब्रह्मांडों तक घूमने-फिरने की आज़ादी वह हासिल कर लेता है। मुक्तिबोध इस शिल्प, इस तकनीक, इस जादुई स्वप्न-संसार का इस्तेमाल बार-बार अपनी कविताओं में करते हैं। अगर भाषिक अलंकृति और नए-नए बिम्बों के सांगरूपक न हों तो उनकी कविताओं का यह जाना-पहचाना विधान लगभग एकरस हो जाएगा। लेकिन दो कारणों से ऐसा नहीं होता–एक तो उसकी अनहोनी भाषिक अलंकृति से और दूसरे हर कविता में उनके आत्म के प्रवेश या उसके चित्रण से। यह अर्द्ध-आत्म-चरितात्मकता, जिनमें वे व्यक्ति या स्वयं उद्भूत एक चरित्र के रूप में बेलाग उपस्थित होते हैं–यही मौजूदगी उनकी कविता की शिल्पगत एकरसता को तोड़ती चलती है :

यह छाँह मेरी सर्वगामी है
हवाओं में अकेली साँवली बेचैन उड़ती है

कि श्यामल अंचला के हाथ में
तब लाल कोमल फूल होता है।
चमकता है अँधेरे में
प्रदीपित द्वन्द्व-चेतस एक
सत्-चित्-वेदना का फूल।

अपने इस विश्व-दर्शन में कवि अपने पक्ष का चुनाव करता है। मुक्तिबोध कहीं भी और कभी भी निष्पक्ष या समन्वयकर्ता की तरह व्यवहार नहीं करते। इस विश्व-दर्शन में भी उनका अपना वैचारिक पक्ष स्पष्ट है। और वह क्या है? वह दुख और संघर्ष और स्नेह का पक्ष है। पीछे हमने एक कविता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि मुक्तिबोध वर्गों के भीतर भी वर्गों को अवस्थित पाते हैं। उनकी यह अवधारणा मार्क्सवाद की शुद्धता के विरुद्ध जाती है। फिर भी वे ऐसा सोचते या देखते और कहते हैं। 'आँखिन देखी' को वे वैचारिक शुद्धता के नाम पर बिलकुल नकार नहीं देते, यह भारतीय सन्दर्भों में और एक कवि की, विचारक की ईमानदारी के रूप में कथन का एक प्रमाण है। फिर भी इस 'धरती के विकासी द्वन्द्व क्रम' में वे अपना पक्ष-स्नेह और संघर्ष का पक्ष-स्वीकार करते हैं :

'जहाँ भी स्नेह या संगर
वहाँ पर एक मेरी छटपटाहट है
वहाँ है ज़ोर गहरा एक मेरा भी
सतत मेरी उपस्थिति, नित्य सन्निधि है।
एक मेरा भी वहाँ पर प्राण-प्रतिनिधि है
अनुज-अग्रज, मित्र
कोई आत्म-छाया-चित्र
धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष
स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष
मेरा पक्ष निस्सन्देह।'

इन्हीं स्थितियों में मुक्तिबोध उस 'प्रतेजस आनना', 'तेजस्विनी लावण्य श्री' के दर्शन करते हैं। सवाल उठता है कि वह कौन है? मुक्तिबोध इस रूप में किसे प्रतीकित करते हैं? और वह भी कवि के कन्धे पर जब हाथ रखती है, तब काले लबादे में ढँकी हुई है? फ़ैंटेसी की उड़ान में, जगत्-दर्शन की यायावरी में यह किसकी

कल्पना काला लबादा ओढ़ कर आई है? निश्चय ही यह 'क्रान्ति' की 'प्रतिभामयी मुख-लालिमा' है। निश्चय ही मुक्तिबोध वहीं पहुँचते हैं जो इस कविता में (और उनकी अधिकांश कविताओं) उनका वैचारिक काव्यात्मक लक्ष्य है। उनके यहाँ कविता विचारों का, मार्क्सवादी विचारों का भाव-सार है। कविता मुक्तिबोध के यहाँ सिर्फ़ उत्तेजक, चमकदार बिम्बों का गुँथा हुआ क्रम भर नहीं है। उसकी वैचारिक, मनमाफ़िक परिणति उनकी काव्य-कल्पना का लक्ष्य है। और यहाँ भी है। काले लबादे के भीतर छिपी हुई 'प्रतेजस आनना' यह 'क्रान्ति' ही है, उसी की कल्पना है, और कुछ नहीं। और यह 'प्रतेजस आनना' कवि के भीतर की वैचारिक कमज़ोरियों का एक उत्तर भी प्रस्तुत करती है, कवि के आन्तरिक, खंडित, ढुलमुलपन वैचारिक दुविधाओं का एक समाधान भी सामने लाती है :

मुझसे भागते क्यों हो,
सुकोमल, काल्पनिक तल पर
नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
तुम्हारी स्वप्नवीथी कर सकेगी क्या!
बिना संहार के सर्जन असम्भव है
समन्वय झूठ है।

यह शुद्ध मार्क्सवाद है। पुराने में 'स्पेयर पाट्र्स' लगाकर लँगड़े प्रजातंत्रों में जो सुधार, उन्नति और विकास की बात की जाती है, आज भी की जा रही है, वह नहीं चलेगी। उससे पुराना सुरक्षित रह जाएगा और 'स्पेयर पाट्र्स' घिसकर ख़त्म हो जाएँगे। पुरातन का मलबा हटाकर ही नया बन सकता है। यह धर्म-विचार बदलना नहीं है कि पुराने मलबे का इस्तेमाल कर लो और उसमें अपना 'ईश्वर' रखकर सजदे में झुक जाओ। यह नए विचारों से नए समाज का निर्माण है, जिसमें पुरातन सिर्फ़ संग्रहालयों की वस्तु है, जिसके अध्ययन से मानव-समाज के विकास का इतिहास पता लगाने में मदद मिलेगी। नए समाज के निर्माण में पुराने-नए का गठजोड़ सम्भव नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध 'क्रान्ति' के मुँह से कहलवाते हैं :

बिना संहार के सर्जन असम्भव है
समन्वय झूठ है।

मैं बार-बार इस बात को दुहराता हूँ कि मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जो अपनी हर कविता में एक चरित्र की तरह हैं। लेकिन उससे अलग भी मुक्तिबोध अपनी निजी उपस्थिति अधिकांश कविताओं में दर्ज कराते हैं। जहाँ तक वे चरित्र हैं, वहाँ

तक कविता की विषय-वस्तु उनके इर्द-गिर्द लिपटी पड़ी है, लेकिन जहाँ पर उनकी निजी उपस्थिति है वहाँ वह काव्य-चरित्र से हटकर कवि मुक्तिबोध मनुष्य हैं। एक सामान्य लेकिन महत्त्वपूर्ण बौद्धिक इकाई। उनका अपना रोल भी है कविता में। काव्य-पुरुष मुक्तिबोध से पृथक् कवि मुक्तिबोध का। एक जगह वे चरित्र हैं, दूसरी जगह सृजनकर्ता। मुझे बार-बार लगता है कि सृजनकर्ता मुक्तिबोध अपने को बार-बार विषय-मुक्तिबोध के बगल में रखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। इससे कविता का घनत्व और गहराई दोनों बढ़ जाते हैं। जैसे इसी कविता में जगत्-दर्शन को निकली कवि की छायात्मा। इससे अलग मुक्तिबोध अचानक अपने को प्रस्तुत करते हैं :

कि मैं तो एक आयुध
मात्र साधन
प्रेम का वाहन
तुम्हारे द्वार पर आया हुआ मैं एक सज्जित रथ
...व मेरी प्राण आसन्दी तुम्हारी प्रतीक्षा में है.
यहाँ बैठो,
विराजो
आत्मा के मृदुल आसन पर।

यह इस कविता का सबसे हृदय-द्रावक अंश है और सबसे महत्त्वपूर्ण। शायद नई पीढ़ियों के लिए यही कहना था। तुम्हीं हो, तुम्हारे ही लिए मैं इस काव्याकाश में उड़ रहा हूँ। इस जगत्-दर्शन के बाद मैं क्या हूँ? मुक्तिबोध गीता के एक श्लोक को तोड़कर नई बिम्ब-माला खड़ी करते हैं। वे गांडीव (आयुध) भी हैं, 'निमित्त' (मात्र साधन) भी हैं और वह सजा हुआ रथ भी हैं जिस पर सवार होकर नई पीढ़ी (तुम्हें) नया काव्य-रण लड़ना है। विचारों का युद्ध, अपने 'पक्ष' के लिए एक नया महाभारत। यहाँ तक तो वे गीता के मिथक में हैं, लेकिन उसे भी तोड़कर। वे उसे ज्यों-का-त्यों नहीं उठाते। 'मात्र साधन' कहकर वे 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाची' की ओर अपनी कवि-उपस्थिति को दर्ज करा देते हैं। फिर वे गीता के उस संघटन को तोड़ देते हैं। वे सव्यसाची हों, न हों, गांडीव तो हैं। फिर वे 'वाहन' भी हैं–'तुम्हारे द्वार पर आया हुआ मैं एक सज्जित रथ'। और उस 'सज्जित रथ' पर नए कवि को बैठने की जगह कहाँ है? प्राण की आसन्दी (असनी) बिछी है। 'आत्मा' का 'मृदुल आसन' है, और स्वागतम है–'विराजने'

का आवाहन है। 'विराजो' मतलब आराम से निश्चिन्त होकर बैठने का बुलावा है, क्योंकि कवि 'प्रेम का वाहन' है। ये जो बिम्ब-लड़ियाँ हैं वे किस तरह कवि-मुक्तिबोध का प्रवेश कविता में कराती हैं, यह दर्शनीय है। कवि यहाँ एक ही साथ तीनों है–1. गांडीव भी, 2. निमित्त मात्र भी और 3. सज्जित रथ भी। यह मिथक का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। आयुध, जो रखा हुआ है, अर्जुन (मैं) जो मात्र साधन है और सज्जित रथ, जिसका संचालक कृष्ण (यहाँ शायद कवि स्वयं) है। इस तरह रथ+आयुध+व्यक्ति–यहाँ एक है, और जो बुलावा है, वह बिलकुल एक नई बात है। गीता में न 'प्राण-आसन्दी' है, न 'आत्मा का मृदुल आसन'। यही मुक्तिबोध हैं। इसी तरह वे कविता में अपनी प्रविष्टि को सार्थक करते हैं। पूरी कविता एक स्वप्न-चित्र (फ़ैंटेसी) है। सम्पूर्ण विश्व का जो 'विकासी द्वन्द्व क्रम' है, उसमें कवि का जो 'निस्सन्देह पक्ष' है, उसी के लिए कवि का वैश्विक आवाहन है। क्या हम कह सकते हैं कि यह World International के लिए आवाहन है? क्या कविता में से हम इस अर्थ को दुह सकते हैं? यह कविता मुक्तिबोध की अन्य बहुत सारी कविताओं से अधिक सघन-संक्षिप्त और स्पष्ट है। विचार को एक काव्य-फ़ैंटेसी में बदल दिया गया है।

अपने कवित्व के इस कठिन रण में कई बार मुक्तिबोध वस्तु और वस्तु-कथन की सौन्दर्यात्मक प्रतीति का सवाल ख़ुद के सामने खड़ा करते हैं। वे अपने को भी नहीं बख़्शते :

मुझे नहीं मालूम
सही हूँ या ग़लत, या कुछ और
सत्य हूँ कि मात्र मैं निवेदन-सौन्दर्य

कविता क्या है? व्यक्ति या कवि या आत्मन् का वक्तव्य क्या है? सत्य? या मात्र 'कहन की तारीफ़'? एक दूसरी कविता 'सही हूँ या ग़लत' में मुक्तिबोध इस 'निवेदन सौन्दर्य' को 'कहन की तारीफ़' कहते हैं। मुक्तिबोध 'रूप' और 'कथ्य' के इस द्वन्द्व को अन्त तक सुलझा नहीं पाए। इसीलिए कभी वे वृत्तान्त के लम्बे संग्राम से जूझते नज़र आते हैं और कभी शब्दों की सौन्दर्यात्मक प्रतीति के खेल से। यह उनकी कविता का एक नया रंग भी है और उसकी सफलता-असफलता भी। 'मुझे नहीं मालूम, सही हूँ या ग़लत या कुछ और' इस तरह के संदिग्ध वक्तव्य मुक्तिबोध की कविताओं में बार-बार डूबते-उतराते नज़र आते हैं। वे अनेक बार अपनी वैचारिक स्पष्टता पर भी सन्देह करते नज़र आते हैं, क्योंकि 'सत्य' को

जानना और प्रकट करना आसान तो नहीं है। 'दिमागी गुहान्धार का औरांग-ओटांग' कविता की शुरुआत में ही वे कहते हैं :

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
विचारधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न!
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध-विपरीत
नेपथ्य-संगीत।
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क...

दरअसल, जब 'करीने से सजे हुए संस्कृति प्रभामय गृह' में बहसें होती हैं, जब तर्कों को दाँतों से काटा जाता है, तब सत्य कहीं नहीं होता, उसका बहाना होता है, उसके बहाने उस विरूप अमानवीय अहंकार (औरांग-ओटांग) को ही लोग व्यक्त करते हैं। तर्क या शब्दों के, सम्भाषण के नाद-प्रवाह, आवाज़ की उठान, शोर और हुल्लड़ या मन्द्र–गम्भीरताएँ–सब उसके पर्दे हैं–उस औरांग-ओटांग के, उस बालदार पूँछ के जो असत्य और अहंकार को (सत्य का) दूसरा चेहरा पहनाने की छलनाएँ हैं :

सत्य के बहाने
स्वयं को चाहते हैं प्रतिस्थापित करना
अहं को तथ्य के बहाने।

कवि के कथन में एक विचित्र व्यंग्य-भरी उदासी है। अवचेतन के इस रोल पर कवि में एक उदास चाकचक्य भाव है। एक नैराश्य की अनुगूँज है। जब सत्य उद्घाटित ही नहीं हो सकता तब 'संस्कृति के इस प्रभामय गृह' में जो मार-काट चल रही है, वह क्यों है? लेकिन यह सब निस्सार तो नहीं है, या निस्सार होते हुए भी निर्लक्ष्य तो नहीं है। इसी में कविता का सारतत्त्व छिपा हुआ है। सब कुछ सलक्ष्य है। 'संस्कृति के प्रभामय अध्ययन-कक्ष' में बैठे ये लोग अपना 'लक्ष्य' जानते हैं और पर्दा डालने के बहाने उस निरावरण सत्य पर प्रहार करते हैं :

कैसे सत्य हैं–
ढाँक रखना चाहते हैं बड़े-बड़े नाख़ून!
किसके लिये हैं वे बघनख
कौन अभागा है वह!!

जिस 'संस्कृति के प्रभामय गृह' का चित्रण यहाँ मुक्तिबोध ने किया है, वहाँ तो 'वह आभागा' वही हैं।

इसी एक अजब-सी पराजय और उदासी का, जो तत्कालीन जीवन और समाज में घटित हो रहे आदर्शों के क्षरण से पैदा हुई है, मुक्तिबोध अपनी एक दूसरी कविता 'एक रग का राग' में व्यक्त करते हैं। यह विघटन, जो आत्म के माध्यम से कहा गया है, वह दरअसल, ज़माने के लिए देखे हुए, उत्तेजित-उत्साहित अपने स्वप्न, अपने विचार का विघटन है। यह व्यक्ति-कवि का क्षरण नहीं, जितना राजनीतिक, आदर्शवादी दुनिया, और अपने देश-समाज के विघटन का दृश्य है। और राजनीतिक ही क्यों, सांस्कृतिक, सफ़ेदपोश लोगों के निजी-व्यक्तिगत और चारों ओर के सामाजिक-व्यक्तित्व और तथाकथित बौद्धिकों के विघटन का चित्र है। एक ऐसी उदासी, एक ऐसे ह्रास का चित्रण है जिससे पुराने ज़माने में (कुम्भकर्ण-रावण इत्यादि) तो लड़ा जाता था। अब वह सभ्यता-समाज का ह्रास है और आज के आदमी की धजा है। इसीलिए कवि कहता है :

समाज में जितने भी निन्दा प्रस्ताव हैं
सब हमें याद हैं
हर एक का चेहरा व जीवन-रहस्य हम जानते
कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्ठा है
सब हमें मालूम
लेकिन अब लगता है, यह सब व्यर्थ है
क्योंकि पी ज़हर यह
क्योंकि जी ज़हर यह
सुन्न हुई नाड़ियाँ...
(हृदय में बैठा है चोट्टा कि मसीहा)
ऐसी आज आइडियालजी है।

'सत्य' और 'निवेदन-सौन्दर्य' के बीच मुक्तिबोध की यह भटकन उनके रचना-जीवन के अन्त तक वैसी की वैसी बनी हुई है। कभी भी उसे (यानी काव्य-तत्त्व और संरचना) पूरी तरह सिद्ध कर पाने का सन्तोष उनके यहाँ नहीं दिखता। इसी वजह से एक सिनिकल खीझ कविताओं में जगह-जगह दीख पड़ती है। चोट्टा और मसीहा-किसी भी विचारधारा के ये छोर-इसे कैसे हल करें, कैसे सुलझाएँ? यह जो उदास, व्यंग्य-भरा हास मुक्तिबोध की तिकोनी आत्मा से बार-

बार बाहर छलक आता है, वह इसी कारण। सौ-सौ राहें ('चौराहे') फूटने का यह जो ज़िक्र है वह मुक्तिबोध की उसी 'अधीरा आत्मा' और 'महाकाव्यात्मक पीड़ा' (वाल्मीकि) का द्योतक है। उन सबमें से गुज़रने और अपने को दे देने में उस अधीर और विराट संरचना को ही पाने की आकुलता है। लेकिन कई बार कवि को यह भी लगता है कि वह सम्भव नहीं हो पाएगी, क्योंकि उसमें अपनी रचनात्मक ऊर्जा (Creativity) और अपनी 'महाकाव्यात्मक पीड़ा ('मा निषाद...') के भी लुट जाने का ख़तरा है। इस तरह अपना सब कुछ लुटाकर और कुछ भी न पाकर, फिर जो ठगे जाने का अहसास है, उसी में से कवि का 'प्रसन्नचित्त मूर्ख' निकलकर प्रत्यक्ष होता है। इसमें 'अश्रुपूर्ण हँसी' व्यंग्य में है, और इसी तरह अपने उपहास की प्रक्रिया में ही (कवि के भीतर) 'जगत् स्वायत्त' होता है। मुक्तिबोध अपने इस निदान में यहाँ पहुँचते हैं कि आत्म-विसर्जन रचना की खोज का पहला प्रयास है, जिसमें 'आत्म' क्षत-विक्षत होता है और एक अव्यक्त ढंग की हास्यास्पदता के दर्शन होते हैं। इसी आत्म-ज्ञान के भीतर से कवित्व, कला और संरचना के एक नए संसार–एक स्वायत्त जगत्–का उदय रचनाकार के भीतर होता है। निराला का यह कथन 'माल-पूँजी ले गए ठग' का अनुभव इसी प्रक्रिया में होता है। यानी कवि का यह 'स्वायत्त जगत्' सार्वजनीनता के भीतर से ही लौटकर साक्षात् होता है। विविध जीवनानुभवों, क्षणों, और त्याग और उदासीनता के भीतर से ही अनुभूति का यह शिल्प सम्भव होता है। इसीलिए कवि एक दूसरी कविता ('काव्यात्मन फणिधर') में अपने को 'श्याम दार्शनिक आत्मा' कहता है। वह आत्म-भर्त्सना-व्याख्या अपना ही विचलन है, जो चित्रित है। और यहीं नहीं, अनेक कविताओं में अनेक बार अनेक प्रसंगों में यह पछतावा और उसकी आत्म-स्वीकृति मुक्तिबोध में दीख पड़ती है। मेरा ख़याल है कि हिन्दी में दूसरा कोई कवि इस तरह नहीं बोलता। मुक्तिबोध सिर्फ़ दूसरों को ही कठघरे में नहीं खड़ा करते, खुद खड़े होकर ख़ुद से भी जिरह करते हैं। यह एक ऐसी विकट ईमानदारी है जिसका कोई जोड़ नहीं। यह वह आत्मालोचन है जो उन्हें उनकी रोमानी चकमक से ऊपर उठाता है। दरअसल 'काव्यात्मन फणिधर' कवि ही है। अचानक सर्प का यह बिम्ब उनके मन में चमक उठा होगा। फिर तो उस सांग रूपक में वे स्वयं प्रविष्ट होते हैं। क्योंकि केवल सर्प (फणिधर) तो कविता का विषय ही नहीं हो सकता। उतना तक तो वह एक अभिधा है। लेकिन हम देखते हैं कि उसकी सर्पिल गति कविता की सर्पिल गति बन जाती है। कवि के

भीतर उठनेवाली संवेदन-वक्रताओं की आँकी-बाँकी, तिरछी, टेढ़ी-मेढ़ी रूपरेखा गढ़ती चलती है, या उसका प्रतीक बन जाती है। फिर तो सारी कविता एक क्षुद्र अभिधा (जैसी कि उनके समकालीन केदार नाथ अग्रवाल की कविताएँ होती हैं) से उठकर एक विराट वैचारिक पटल पर आ जाती है, और यह सब कुछ तब होता है, जब हम शब्दों, वृत्तान्तों, विवरणों के प्रथम निरर्थक अर्थ से ऊपर उठ जाते हैं। तब वह सर-सर, वह रूप-रंग, वह प्रकृति-पर्यावरण, वे सामान्य से लगनेवाले वृत्तान्त अर्थपूर्ण, अलौकिक हो उठते हैं। तब वह मुक्तिबोध की नई-नई सूझों, नए-नए चमकदार बिम्बों की लड़ियों-दर-लड़ियों से संरचित, एक ऐसी सरल-सुघड़, लेकिन गहन-अर्थपूर्ण, वर्तमान को परिभाषित करनेवाली, अपने और अपने पार्टनर की राजनीति का संश्लिष्ट-सघन आख्यान बन जाती है। दरअसल मुक्तिबोध की हर कविता (ख़ासकर लम्बी कविताएँ) बिम्बों से निर्मित एक कथा-कहानी है। चमकदार वृत्तान्त ही उनकी कविता का शिल्प या ढब या कहन-शैली है। कथ्य का 'निवेदन-सौन्दर्य' इसी को कहते हैं। वे एक जगह लिखते हैं, 'मैं हर कविता पर एक कहानी लिखना चाहता हूँ। क्या यह असम्भव है?' नहीं, असम्भव तो नहीं। ऐसा उन्होंने किया भी है ('ब्रह्मराक्षस'–'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'–पहली कविता, दूसरी कहानी) और यह सच्चाई भी है कि उनकी सारी लम्बी कविताओं (या छोटी कविताओं में भी) में उनका अपना रचा हुआ मिथकीय कथा-तत्त्व बहुत प्रबल है। उस कथा-तत्त्व को कविता में कहने का फ़ायदा यह है कि निरर्थक विवरण तिरोहित हो जाते हैं और चमकते हुए बिम्बों और सांगरूपकों में सिर्फ़ वस्तु-तत्त्व का निथरा हुआ संश्लिष्ट सत्त्व ही बचा रह जाता है। यह वैचारिक-कथात्मक सत्त्व ही तो मुक्तिबोध की कला है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में किस तरह कथा-तत्त्व बिम्बों में विकसित होता है। वहाँ विवरण भी बिम्ब हैं। लेकिन 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी में अन्ततः मुक्तिबोध को विवरण और संवादों और पृष्ठभूमि-चित्रण का सहारा लेना ही पड़ता है। लेकिन फिर भी, एक कहानी से भी तो वैचारिक-सत्त्व छानने का प्रयास कथाकार करता है। बहुत सारे चरित्रों के वृत्तान्त के घटाटोप के भीतर से पुराने महाकाव्य भी यही काम करते थे। उपन्यास भी। और अब मुक्तिबोध भी। बड़े कवियों या लेखकों का पिंड कथा-तत्त्व से निथरा हुआ यह कलात्मक-सत्त्व कभी नहीं छोड़ता। मुक्तिबोध ने कहीं किसी कविता में कुछ इस तरह कहा भी है :

'मेरे महाकाव्यों के पन्ने हवा में उड़ते हैं।'

यह कथन मिथकीय-खंडित कथा-कविताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुराने प्रबन्धों का पिष्टपेषण अब नहीं हो सकता, क्योंकि ये कविताएँ एक बदले हुए समय की बिम्बात्मक परिणतियाँ हैं। इसीलिए मुक्तिबोध के 'महाकाव्यों के पन्ने' हवा में उड़ते हैं। खंडित, अक्रमबद्ध, छितराए हुए। उनकी काव्यात्मक परिणति क्लासिकल नहीं, बल्कि आधुनिक है, जहाँ जीवन और समाज और जटिल चिन्तन की खंडित परिणतियाँ ही सम्भव हैं। समय की गति में एक भागमभाग है, स्थिरचित्तता नहीं, और आस्थाओं पर शंका है। यही आधुनिक जीवन है, जिसकी परिणति मुक्तिबोध की कविताएँ हैं। इसी को मुक्तिबोध 'ओ काव्यात्मन फणिधर' में कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं :

मेरे कोब्रा, ओ क्रेट, पुष्ट पायथन,
तम-विशेषज्ञ, प्रज्वलन्त मन,
ओ लहरदार रफ़्तार, स्याह बिजली
भू-लोक-विषय-विज्ञान-गणितशास्त्री
तम-छायाओं के द्वारा प्रकाश-पथ के ज्ञाता
आज की श्याम भूताकृतियों के द्वारा ही
कल की प्रकाश-छवियों के ओ दर्शनकर्ता।
विष रासायनिक, चिकित्सक
पंडित, कर्कोटक
ओ जिप्सी, जग-पर्यटक अथक
तक्षक मेरे,
मेरी छाती से चिपक रक्त का पान करो
अपने विष से मेरे अभ्यन्तर प्राण भरो
मेरा सब दुख पियो
सुख पियो
ज्ञान पी लो।

क्या यह 'फणिधर' बाहर है? कोई क्षुद्र अभिधा है? या यह कवि का अन्तरवर्ती प्रदेश है? निश्चय ही यह कवि के वस्तु-जगत् की बिम्ब-छवियाँ हैं जो सम्बोधनात्मक ढंग से प्रकट-अभिव्यक्त हुई हैं। मुक्तिबोध अपनी पूरी काव्य-यात्रा के लिए यहाँ एक बहुत खूबसूरत बिम्ब प्रस्तुत करते हैं : 'तम-विशेषज्ञ, प्रज्वलन्त मन'। यही है मुक्तिबोध की कविताई का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन। अँधेरे का विशेषज्ञ

और अन्तरात्मा में भरा हुआ जीवन का प्रकाश। विष-रासायनिक...चिकित्सक। अपनी एक कविता में मुक्तिबोध सामान्य सोच के लोगों से अपने को अलगाते हुए कहते हैं :

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिये अन्न है।

ज़हर भी दवा है। असुविधाजनक सत्य-विचार बहुत कड़वे हो सकते हैं। कविता का यह सम्बोधनात्मक खंड निराला की 'बादल-राग' कविता की दूसरी कविता की याद दिलाता है। लेकिन निराला उस कविता में बाहर बैठे हुए हैं। वह स्वयं 'ऐ उद्दाम' से एकीकृत नहीं है। इसे वह एक क्लासिक संरचना के ढंग से रखते हैं। कवि का 'आत्म' और 'आत्मीयता', दोनों वहाँ कविता से अलग हैं। लेकिन मुक्तिबोध के इन सारे सम्बोधनों में कवि-विचारक-समीक्षक-दार्शनिक-आधुनिक मुक्तिबोध स्वयं बैठे हैं। वे अपने को ही परिभाषित करते हैं। यही अपने माध्यम से ज़माने को परिभाषित करना है। आत्म-तत्त्व ही यहाँ बाहर का वस्तु-तत्त्व भी है। यह एक तरह का Subjective-objective है जो आधुनिक विश्व-कविता का पहला और आख़िरी लक्षण है। लेकिन मुक्तिबोध की अपनी निजी विशेषता क्या है? वह यह कि वे एक ही कविता में बिम्बों की शृंखला को बार-बार भंग कर देते हैं। कई तरह के मिले-जुले कथ्य एक साथ घटित होते हैं और उन कथ्यों के अनुकूल बार-बार बिम्ब पलटते हैं, बिम्बों की नई शृंखला शुरू होती है और कविता सघन से सघनतर होती जाती है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य की तरह अनेक भंगिमाओं, संकेतों और नक्काशियों के बाद मुक्तिबोध बार-बार, बीच-बीच में कथ्य के मूल स्वर (सम) पर लौटते हैं। क्रम और अक्रम (Continuity-discontinuity) की यह प्रक्रिया ही उनकी काव्य-रचना-प्रक्रिया का मूल तत्त्व है। जैसी भी खंडित, भ्रान्त, उदास, निर्णयात्मक, सकारात्मक-नकारात्मक उनके कवि-मन की स्थिति है, उसे वे कविता से बाहर कभी नहीं करते। यही वह सर्पिल गति है (ओ, लहरदार रफ़्तार) जिसे वे जाने-अनजाने बुनते चलते हैं। कविता सरल, सीधी रेखा कभी नहीं बनती। उसका अक्रम ही कविता का क्रम है, पैटर्न है।

इस कविता का मूल 'भाव-इतिहास' उस लोक-मिथक से उद्भूत-उत्प्रेरित है जिसमें एक मणिधर सर्प अपनी मणि को अपनी गुफ़ा (बिल) में ही छोड़कर

बाहर निकलता है। बस, इस फ़्लैश के आते ही कविता चल निकलती है। वह मणि मुक्तिबोध की कविता है, कविता का चमकदार सत्त्व है, प्राण है, चमकता विचार है–जिसे 'तम-गुफा' में छोड़कर, छिपाकर कवि बाहर के संसार में निकल पड़ता है। क्यों? क्योंकि कवि कहता है कि 'यह काल तुम्हारा नहीं।' अभी जो लोग हैं, जो वर्तमान है, उसमें लोगों (जन) की चेतना का विकास इतना और इस स्तर तक नहीं हुआ है कि वे तुम्हारी काव्य-मणि (सन्देश) को धारण कर सकें। अतः उसे छिपाकर रखना है और भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों को देना है।...लेकिन बाहर निकलते ही वहाँ एक दूसरी विक्षोभ-भरी कविता से सामना होता है। मूल काव्य-सत्त्व के चमकते प्रकाश से बाहर, अब अँधेरे की, दुख की, विकृति की, अनाचार की एक नई प्रकृति-पर्यावरण-बसी कविता है। उसकी सर्पिल गति के इर्द-गिर्द मरी हुई प्रतिबद्धताओं की झाँईं है। सुरक्षित लोगों के इनकार-भय का चित्रण है, ड्राइंग-रूमों में तनी हुई लाठियाँ हैं। वहाँ भी फेंके गए काव्य-रत्न हैं जिनसे युग का 'पट-परिवर्तन' हो सकता था। इन्हीं फेंके गए रत्नों के बारे में मुक्तिबोध कहते हैं :

आधुनिक सभ्यता-संकट की प्रतीक-रेखा
उसको मैंने सपने में कई बार देखा।

इस संकट की 'प्रतीक-रेखा' को टालने के लिए ही नीलकंठ का बिम्ब बार-बार पलटकर आता है। फिर वही काम मुक्तिबोध करते हैं। बिम्बों की शृंखला को तोड़कर एक झटके के साथ बदलता हुआ कथ्य-सम्भार और उसके अनुकूल नई बिम्ब-संरचना। अक्रम के भीतर क्रम। अब वे स्वयं नीलकंठ शिव हैं :

भोगो थरथर
भोगो ज़हरीला संवेदन
सूँघते हुए वीरान हवा।

लेकिन जिस काव्य-मणि को 'तम-गुहा' में छिपाकर 'काव्यात्मन् फणिधर' बाहर निकला था, उसका क्या हुआ? बाहरी संसार के दूसरे उपकथ्यों में जब वह व्यस्त है, उसी वक्त भविष्य आ टपकता है और उस 'संवेदनमय ज्ञान-नाग' की मणि उठा ले जाता है। आमने-सामने हिसाब नहीं होता। लोग आते हैं, लेकिन उस 'तम विशेषज्ञ प्रज्वलन्त मन' 'काव्यात्मन् फणिधर का इन्तज़ार नहीं करते। भविष्य उस चमकते प्राण-रस को खींच लेता है। कवि को दुख है। वह 'तम-

विशेषज्ञ' तो है लेकिन उसका 'प्रज्वलन्त मन' भी अब अँधेरा हो गया। वह निचुड़ गया, निःसत्त्व हो गया। इसीलिए आश्चर्य है, दुःसह स्थिति है।

अजीब हुआ
वह भीतर से देदीप्यमान जो रहती थी
भू-गर्भ गुहा
अब अँधियारी, काली व स्तब्ध
निश्चेतन, जड़, दुःसह-
अजीब हुआ!

इस कविता का अन्तिम हिस्सा कुछ अजीब-सा है। अन्त तक आते-आते सम्भवतः कवि अपने 'प्रज्वलन्त मन' को वेदान्तिक परम्परा के समकक्ष रखकर देखना चाहता है। ऐसा क्यों हुआ? और 'ब्रह्म' की अमूर्त, निर्गुण अवधारणा को भी कवि एक 'ब्रह्मदेव' में बदलकर अंकश्यायिनी सरस्वती का ज़िक्र करके, जिसके समानान्तर अपनी 'प्रकाश-मणि' को स्थापित करने का प्रयत्न कवि ने किया है। दरअसल यह बात कविता के पूरे प्रभाव को हलका करती है। वैसे निराकार की यह विकृतीकृत साकार परिणति मिथक में उपस्थित है, लेकिन इसका पहला इस तरह का प्रयोग मुक्तिबोध ने किया है। इसमें उनको हलका सन्देह भी है। क्योंकि यह 'ब्रह्मदेव' भारतीय मानस में अत्यन्त प्रबल होकर बैठा है। उसका प्रत्याख्यान अत्यन्त साहसिक कार्य है। मध्यकालीन हिन्दी कविता और भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी वह बहुत प्रबल है। उसके अनेक नवोन्मेषित आख्यान हैं–अनेक पन्थ, अनेक अवतार, जिनका प्रयोग मध्यकालीन बड़े कवियों ने किया है। कवि निश्चय ही इस बात से परिचित लगता है, फिर भी वह अपने नए विचारों (मार्क्सवाद) की काव्य-यात्रा के प्रति दृढ़ है :

ओ नागात्मन,
संक्रमणकाल में धीर धरो
ईमान न जाने दो।

दरअसल वेदान्तिक परम्परा के ख़िलाफ़ मुक्तिबोध के भीतर लगातार एक बहस चल रही होगी–ख़ासकर 1959-60 के आसपास, जब यह कविता लिखी गई। वेदान्त हमारी पूरी साहित्यिक परम्परा को घेरे हुए है। गोरखनाथ से लेकर कबीर और फिर तुलसीदास हों या अष्टछाप के कवि–सभी को वेदान्त के विभिन्न रूप-रंग अपने गिर्दाब में लिये हुए हैं। भूल से भी कोई बाहर नहीं है। किसी

और दार्शनिक विचारधारा की सींक भी नहीं समा सकती। बल्कि कहा तो यहाँ तक गया कि वेदान्त के मोक्ष, कृपा और उसके शरणवाद ने प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण अथवा धर्म से आए, वेदान्त ने ईश्वर (ब्रह्म) के समक्ष बराबरी का दर्जा दिया। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला–खड़ी बोली के ये सारे बड़े कवि भी वैष्णववादी ही हैं। इन्हें वेदान्त से बाहर नहीं किया जा सकता। मुक्तिबोध के सामने यह चुनौती है। किसी भी मार्क्सवादी कवि के सामने यह चुनौती है। जब विचारधारा के अलगाव या नई आस्थाओं की बात आएगी तो हर कवि को इस पर सोचना ही पड़ेगा। शमशेर और अज्ञेय में तो इस तरह की, यानी वेदान्तिक परम्परा की बहुत सारी अनुगूँजें हैं। नरेश मेहता को तो नष्ट होने की हद तक अपनी वैष्णवता का अभिमान है। यही वह 'संक्रमणकाल' है, जिसका ज़िक्र मुक्तिबोध अपनी उपर्युक्त कविता में करते हैं। वैष्णवता के सामने मत्था टेकना तो कवि के लिए अपना ईमान बेचने की तरह है। इसीलिए इस कविता के अन्त में बड़े भोंड़े और चलताऊ ढंग से मुक्तिबोध वेदान्त पर आक्रमण करते हैं। यह विचारधारा का संक्रमणकाल है। ब्रह्म के विराट अन्धकार, शून्य, अनहद, विस्फोट से बाहर एक-दूसरे तरह के उजाले में प्रवेश। इसी मनस्थिति में, मुक्तिबोध ने उन्हीं दिनों (1959-60) 'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता लिखी, जिसमें वेदान्त की विचारधारा से टक्कर लेते हुए वे पूरी तरह उसे ध्वस्त करने की मुद्रा में दीख पड़ते हैं।

कह सकते हैं कि यह कविता वेदान्त (ब्रह्म) का एक नया आख्यान है, बल्कि यों कहें कि वेदान्त दर्शन पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से एक नए किस्म का व्याख्यान है। लेकिन उससे भी पहले यह एक ख़ूबसूरत कविता है। समग्र भारतीय कविता की पृष्ठभूमि में अधिकांशतः ब्रह्म के जो कई रूप-रंग हैं, उस पर यहाँ चिन्तन और चिन्ता दोनों है। पहले तो मुक्तिबोध ने उसके रहस्यवाद से अन्ततः पर्दा उठाया है। उसके अतिमानवीय रूप के आतंक के मूल उपादानों और स्रोतों की तलाश और जाँच-पड़ताल की है। जहाँ अपनी दूसरी कविताओं में मुक्तिबोध यथार्थ को एक फ़ैंटेसी या स्वप्न-चित्र में बदलकर, उठाकर, उछालकर उसका एक नया और अननुभूत अर्थ रचते हैं, उसके ठीक विपरीत ब्रह्म की रहस्यात्मक फ़ैंटेसी की चीड़-फाड़ करते हुए, बिलकुल अपने ही तौर-तरीके से उसके कटु-क्रूर, जन मस्तिष्क-शोषक, जन-चेतना को विलुप्त और विकृत करनेवाले यथार्थ के रूप में चित्रित करते हैं। जहाँ मुक्तिबोध अधिकांशतः फ़ैंटेसी

का उपयोग यथार्थ को कलात्मक अन्यान्य अर्थों तक उठाने के लिए करते हैं, वहीं इस कविता में इस 'विश्वात्मक फ़ैंटेसी' को सामान्य षड्यंत्र के चित्र की तरह प्रस्तुत करते हैं। इस षड्यंत्र (ब्रह्म) पर कविता में हलका रोष, हलकी उदासी, ठगी पर विरक्ति और अन्ततः एक मान-अभिमान-भरा इनकार–ये सभी पक्ष व्यक्त हुए हैं :

एक-एक पुतली में लाख-लाख दृष्टियाँ
असंख्य दृष्टिकोण
बनते-बिगड़ते
फिर भी यशस्काय दिक्काल सम्राट
तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब कुछ
प्रतिपल तुम्हारा ही नाम जपती हुई
लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया
स्वार्थ-सफलता की पहाड़ी ढाल पर
चढ़ती है हाँफती...
मात्र अनस्तित्व का इतना बड़ा अस्तित्व
ऐसे घुप्प अँधेरे का इतना बड़ा उजाला
सृजन के घर में तुम
मनोहर शक्तिशाली
विश्वात्मक फ़ैंटेसी
दुर्जनों के भवन में।

यह एक ऐसा नया और अप्रतिभ करनेवाला बिम्ब है, जिसे भगवद्गीता से लेकर आज तक किसी ने भी नहीं रचा। यह एक अद्भुत दुस्साहस है, जो एक भौतिकवादी दृष्टिकोण वाले कवि द्वारा ही सम्भव है। 'आत्मा' पर मुक्तिबोध अपनी कविताओं में लगातार कटाक्ष करते दीखते हैं। 'आत्मा' पर उनको बहुत गुस्सा है। चेतना के इस नैतिक खंड-बिम्ब (आत्मा) को वे बार-बार ध्वस्त करते हैं। पीछे, एक कविता में उन्होंने कहा है, 'आत्मा भी कई सत्य खाती है।' आत्मा की उपमा वहाँ उन्होंने 'शूकरी' 'मार्जारी' से दी है, जो अपने जने हुए सत्यों को खा जाती है। यहाँ आत्मा की उपमा 'लार टपकाती हुई कुतिया' से उन्होंने दी है, जो 'स्वार्थ-सफलता की पहाड़ी ढाल पर हाँफती हुई चढ़ती है।' यहाँ ढाल का प्रयोग अनजाने ही नहीं है, वह जानबूझकर, सचेत ढंग से कवि द्वारा किया

गया है। आत्मा का ब्रह्म की ओर ऊर्ध्वगमन (षट्चक्र भेदन, वह ब्रह्मरन्ध्र तक की ऊँचाई, वह तांत्रिक व्यवसाय, वह अरूप शून्य, वह विस्फोट, वह अनहदनाद, वह राग-रंग, वह एकात्म, वह मोक्ष, वह तिरोभाव) दरअसल, कवि की नज़र में यह एक ढलान पर चढ़ना (उतरना) ही है। एक गिरावट, एक अश्लील पतन है, स्वार्थ-सफलता का एक भौतिक (लेकिन तथाकथित आध्यात्मिक) व्यवसाय है, जिसे उत्थान, ऊर्ध्वगमन, आत्मा+ब्रह्म का एकात्म कहकर जनसाधारण को ठगा-झुठलाया जाता है, साधना और तपस की बात की जाती है। मुक्तिबोध रहस्य और अध्यात्म के इसी मायाजाल को इस कविता में ध्वस्त करते हैं :

ओ रे, निराकार शून्य
महान विशेषताएँ मेरे सब जनों की
तूने उधार ले
निज को सँवार लिया
निज को अशेष किया
यशस्काय बन गया चिरन्तन तिरोहित।

●

पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?

'इतिहास हर क्षण बदलता है। कहीं वह इस ढंग से न बदल जाए कि हमें हानि हो! हम सोचते हैं, इस तरह कदम उठाने से बात बन जाएगी, किन्तु हमारे सारे चतुर और चालाक अनुमानों के बावजूद, विश्व-प्रवृत्तियों के अध्ययन के हमारे सारे अनुमानों के बावजूद, जिस परिणाम के लिए हमने अपना कदम बढ़ाया, वह नहीं निकला। और हमारे उद्देश्य के सर्वथा विपरीत कोई ऐसा अकल्पनीय फल– एक नई परिस्थिति बनकर हमें घूरने लगता है, कि जिससे लड़ने की तैयारी अधूरी और मनोबलहीन हो सकती है।...इतिहास का जो अननुमानित है वह प्रवृत्तियों (चिह्नों) से उद्गम होकर सामने आता है।...किन्तु इतिहास की दिशा प्रवृत्तियों और उनके आधार पर बनाई गई योजनाओं से नहीं बनती, वह कुछ ऐसी घटनाओं से बनती है, जिनका प्रभाव दीर्घकालिक रहता है।'–इतिहास का अननुमानित', 'रचनावली' भाग-6।

मुक्तिबोध बातचीत और बहस में अक्सर सबसे पहले यही पूछते थे, 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' वे जिससे संवाद कर रहे हैं, उसकी विचारधारा क्या है, वह जाने-अनजाने कैसे सोचता है, उसके विचार तर्क और साक्ष्य के स्तर पर कहाँ ठहरते हैं। जनता, समाज और दुनिया के लिए उसके विचार कितने उपयोगी, लाभप्रद या हानिकर हैं। उनका कोई ठोस आधार है या वे मात्र उसके 'मनस्तरंगवाद' की उपज हैं–ये सारी बातें जानने-समझने की कोशिश करते हुए वे देश-दुनिया, समाज-इतिहास, विज्ञान और साहित्य इत्यादि पर अपनी बहस आगे बढ़ाते थे और सामने वाले को समझाने-समझने का प्रयास करते थे। वह 'पार्टनर' दोनों तरह का है–1. यह कल्पित और अमूर्त भी है। 2. वह ठोस और सामने उपस्थित भी है। दूसरे शब्दों में वह इतिहास-समाज की प्रवृत्तियों से भी संवाद करते हुए नज़र आते हैं और उसकी नियताप्ति से भी। और वह अपने समकालीन दोस्तों-सहकर्मियों, दुश्मनों-विरोधियों से भी संवाद करते नज़र आते हैं। उनका एक हाथ अत्यन्त प्यार से साथ-साथ चलते हुए समय के इस प्रतीक-पुरुष पर है। वह संवाद

उनके राजनीतिक आलेखों, उनके अनोखे बहसबाज़ पत्रों, उनकी डायरियों, आलोचनाओं, कहानियों और अन्ततः सबसे उत्तेजक, उदास और ज्वलन्त रूप में उनकी कविताओं में सर्वत्र व्याप्त है। हर जगह वे प्रश्नाकुल हैं और इस दुनिया की अगति-प्रगति दुर्गति का जवाब ढूँढ़ते नज़र आते हैं। इन्हीं प्रयत्नों के भीतर से मुक्तिबोध की विश्लेषण-क्षमता और उनकी कविता-संरचना एक सर्वथा नया रूप आकार लेती नज़र आती है।

उनकी रचनाओं में उनका यह 'पार्टनर' चार रूपों में नज़र आता है :

1. प्रतिक्रियावादी-दक्षिणपन्थी बनाम प्रगतिशील-वामपन्थी
2. कठमुल्ला वामपन्थी बनाम उदार वामपन्थी
3. प्रगतिशील, उदार वामपन्थियों का अनेक कारणों से मोहभंग और ख़ेमाबलदल।
4. मुक्तिबोध का एकान्तीकरण, आत्मसन्देह, आत्म-भर्त्सना, अवसाद और पुनः जनता में और काव्य-साहित्य में अपने नए 'कॉडर्स' की खोज। अपने लिए नए प्रतीक-शिल्प और प्रतीक-पुरुष की तलाश।

विचारधारा के इतने सघन-अनिश्चित और सहसा घटित टकरावों-संघर्षों के भीतर से ही उनकी काव्य-कला का चित्र-विचित्र निर्माण होता है। ये ऐतिहासिक संवाद और बहस-मुबाहिसे दो तरह के हैं। 1. शुद्ध ऐतिहासिक, यानी इसमें उनके काम करने का समय, समाज राजनीति, दर्शन–सभी उनके इस इतिहास में शामिल हैं। अपनी एक कविता में वे अपने इस समय के लिए एक विचित्र काव्य-पंक्ति का निर्माण करते हैं–'साँवली हवाओं में काल टहलता है।' ऐतिहासिक काल, इतिहासकार कहेंगे, एकदम स्पष्ट, खुला और दृश्य होता है, लेकिन मुक्तिबोध अपने समय के बारे में इस निष्कर्ष पर पहुँचते दिखाई देते हैं कि वह धुँधलके में टहल रहा है, उसकी गति और उसके झपट्टे को स्पष्ट रूप से देखा-समझा नहीं जा सकता। वह एक झीने, भस्मीले कुहरे में आता-जाता, चहलकदमी करता दीख रहा है। उस पर कोई निश्चित राय कायम करना कठिन है। वह मूर्त-अमूर्त, ठोस-निष्कर्षात्मक और फिर भुलावे में डालनेवाला, हमारे निष्कर्षों को आसानी से झाँसा देता हुआ निकल जानेवाला, ग़ायब हो जानेवाला भी है। किसी अति संवेदनशील कलाकार के लिए यह अत्यन्त उलझन में डालनेवाली स्थिति है। क्या ऐसा है? और फिर अगर है तो ऐसा क्यों है–इसका अध्ययन दिलचस्प है। 2. साहित्यिक-ऐतिहासिक, जिसके लिए मुक्तिबोध का वह प्रसिद्ध प्रश्न हुआ

करता था, और जो इस अध्याय का शीर्षक है–'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' इन दोनों चिन्ताओं से छनकर ही इस अनोखे कवि-रचनाकार की कला निर्मित होती है। अपना समय और अपने समय का साहित्यिक समय, इन दोनों का द्वन्द्व ही उनकी कला-संरचना की वस्तु है, और इसी वस्तु के अनुकूल बार-बार वे अपना शिल्प और अपनी भाषिक संरचना निर्मित करते हैं। तोड़ते, उलझाते, बिगाड़ते और फिर बनाते हैं। इस पूरे प्रयत्न और इस पूरी रचनात्मक बहस में, हम देखते हैं कि अन्ततः वे अकेले पड़ते जाते हैं, उनका निपट एकान्तीकरण होता है। उनके छोटे भाई श्री शरतचन्द्र मुक्तिबोध (मराठी के एक प्रसिद्ध कवि) इसीलिए एक जगह कहते हैं, 'भाई साहब rebel थे, इसीलिए exiled भी। और इसीलिए घोर एकाकी।' इसी ट्रेजिक स्थिति में से उनकी काव्य-कला का निर्माण हुआ है। श्रीकान्त वर्मा को लिखे अपने एक पत्र (18.10.59) में वे लिखते हैं, 'पिछले एक-डेढ़ वर्ष में मैंने चार लम्बी-लम्बी कविताएँ लिखी हैं।...असल में वे जीवन की उलझनों के समग्र चित्र हैं।' मुक्तिबोध के काव्य-साहित्य की मूल-भूमि यही है। वे अन्तर्विरोधों को, जो कि बाहर के इतिहास में हैं, जीवन में हैं–उनको सुलझाने का प्रयास नहीं करते। कोई भी यथार्थवादी कलाकार यह नहीं करता। वे कहीं भी निष्कर्षों को, या कहें कि बने-बनाए निष्कर्षों को, कविता पर थोपते नहीं, लेकिन अपने पक्ष, अपनी जगह और विचारों के बारे में वे किसी भी सन्देह में नहीं हैं। 'जीवन की उलझनों के समग्र-चित्र' होते हुए भी उनकी कविताओं में उनका वैचारिक पक्ष स्पष्ट है :

'जहाँ भी स्नेह या संगर
वहाँ पर एक मेरी छटपटाहट है
वहाँ है ज़ोर गहरा एक मेरा भी
सतत मेरी उपस्थिति नित्य सन्निधि है
एक मेरा भी वहाँ पर प्राण-प्रतिनिधि है
अनुज-अग्रज-मित्र
कोई आत्म-छाया-चित्र
धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष
स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष
मेरा पक्ष निस्सन्देह।'

अपने पक्ष में निःसन्दिग्ध आस्था कोई नई बात नहीं। एक आदर्श के लिए, मानवता के उन्नयन और अस्तित्व-रक्षा की आस्था ही अपने 'पक्ष को निस्सन्देह' बनाती है। इसके बिना कोई भी कलाकृति, बड़ी कलाकृति नहीं हो सकती। लेकिन सौ-सवा सौ वर्षों में इस आस्था के मानी बदल गए हैं। जब 1919 में लेनिन ने 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' की स्थापना फिर से नए सिरे से की, और 2 जून, 1919 को जब उसकी प्रथम कांग्रेस में जारी घोषणा-पत्र में यह कहा गया कि 'सर्वहारा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल साम्राज्यवाद के विरुद्ध उपनिवेशों की शोषित-पीड़ित जनता को हर सम्भव सहायता देगी, जिससे कि साम्राज्यवादी विश्व-व्यवस्था का अन्तिम विघटन हो जाए', उसी के आसपास रोमाँ-रोलाँ की पहल पर दुनिया के अनेक बुद्धिजीवियों ने 'विचारों की स्वतंत्रता की घोषणा' नाम से एक हस्ताक्षरित वक्तव्य जारी किया, जिस पर रोमाँ-रोलाँ के अतिरिक्त मैक्सिम गोर्की, बर्ट्रेण्ड रसेल, हेनरी बार्बूस, ऑप्टन सिंक्लेयर और स्टीफेन ज़िग के हस्ताक्षर थे। भारत से गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और ए. कुमारस्वामी ने इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। विश्व-स्तर पर लेखकों-कलाकारों और बुद्धिजीवियों के संगठित होने की प्रक्रिया का ही परिणाम था कि लन्दन में पढ़नेवाले कुछ भारतीय विद्यार्थियों ने इकट्ठे होकर 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। उसके संस्थापकों में प्रमुख थे– सैयद सज्जाद ज़हीर, हीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, मुल्कराज आनन्द, भवानी भट्टाचार्य, इक़बाल सिंह, राजा राव और मुहम्मद अशरफ़। इसी का प्रतिफल था कि 8-9 अप्रैल,1936 को लखनऊ में प्रेमचन्द की सदारत में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन ने भारतीय लेखन और कला में आमूल-चूल परिवर्तन करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सभी भारतीय भाषाओं में लेखकों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जिसने भारतीय जन-समाज के बारे में, उसकी मुक्ति की आकांक्षाओं के बारे में नए सिरे से सोचना और लिखना शुरू किया। भारतीय जनता की मुक्ति विश्व-समाज के दलित-पीड़ित मुक्ति का अंग बन गई। मुक्तिबोध जब अपने पक्ष की निःसन्दिग्धता की बात करते हैं तो उसका सन्दर्भ भारतीय होते हुए भी एक विश्व-सन्दर्भ है। इसी बात को वे भरतीय जनता की पक्षधरता लेते हुए बार-बार रेखांकित करते हैं। अपनी एक कहानी 'क्लॉड इथर्ली' में इसीलिए वे हिरोशिमा-नागासाकी पर एटम बम गिरानेवाले उड़ाके को विश्व-साम्राज्यवाद के एक भोले-बेबस व्यक्ति के रूप में चित्रित करते हैं, जो साम्राज्यवादी मन्सूबों का शिकार है।

अपने साहित्यिक समय और बहसों में मुक्तिबोध धीरे-धीरे अपनी बिरादरी के हाथों ही हताहत होते हैं। एक ओर साहित्य में वह दक्षिणपन्थी खेमा है जो कला-रचना की स्वायत्तता की वकालत करता है। धर्मवीर भारती ने जब 'राष्ट्रवाणी' (पुणे) में अपना 'धुरीहीनता' नामक लेख लिखा तो उसके बारे में मुक्तिबोध श्रीकान्त वर्मा को लिखे अपने एक पत्र (अक्तूबर + नवम्बर, 1956) में लिखते हैं, 'मैं समझता हूँ कि श्री भारती ने जो controvercy पैदा की है, उसका उद्देश्य प्रतिक्रियावादी भले ही हो, वह बहुत मूल्यवान है, और उस पर चर्चा होना बहुत आवश्यक है। ध्यान रखिए, वह दाना दुश्मन है, नादान दोस्त नहीं। इसलिए इसकी इज़्ज़त होनी चाहिए। वह प्रतिभाशाली है और problems को खूब feel करता है और think करने की कोशिश करता है। वस्तुतः मैं उसके साहस से बहुत प्रभावित हूँ। वह असल है, घटिया नकल नहीं। यह ठीक है कि वह असलियत हमें पसन्द नहीं। लेकिन असलियत का विरोध दूनी बड़ी असलियत की dignity से होना चाहिए–गरिमा से।' माओ-त्से-तुंग ने 'कला के बारे में' अपने येनान वाले भाषण में कहा है कि 'जो प्रतिक्रियावादी रचनाएँ कला के स्तर पर उत्तम कोटि की हों, उन्हीं को सशक्त तर्कों से ढहा देना चाहिए। कमज़ोर प्रतिक्रियावादी रचनाएँ अपने-आप मर जाएँगी।'

इसी तरह अपने एक पत्र में शिवदान सिंह चौहान जब कलकत्ते में होनेवाले 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन' का ज़िक्र करते हैं तो मुक्तिबोध उन्हें लिखते हैं, 'वह सम्मेलन प्रगतिशीलों का ही होगा, इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि इधर उठ खड़ी हुई नई प्रवृत्तियों के सीधे-सीधे condemnation से काम नहीं बनेगा।...मैं कहना चाहता था कि नई प्रवृत्तियों के क्षेत्र में कई theoretical questions उठ खड़े हुए हैं। प्रगतिशीलों की पुरानी धारणाओं के खंडन पर यह इमारत खड़ी हुई है। जो साहित्यिक इस नई प्रवृत्ति के अंग हैं, और प्रगतिशीलों के साथ भी हैं, उनका कर्तव्य है कि वे प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को पुनः स्थापित करें, जो theoretical questions खड़े किए गए हैं–उनका पूर्ण उत्तर देकर।' यानी पूर्ण तर्क के बिना मुक्तिबोध किसी भी विचार को out-right reject करने के पक्ष में कभी नहीं हैं। जब भी वे 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है' का प्रश्न उठाते हैं तो 'अपने पक्ष को दृढ़, सत्य का पक्षधर और निस्सन्देह' साबित करने के लिए। ज्ञानात्मक बहस में तलवार नहीं चलती, तर्क चलता है।...लेकिन इस पूरी बहस में मुक्तिबोध हम देखते हैं कि चारों ओर से घिरे हुए हैं। दक्षिणपन्थियों और

स्वायत्तवादियों से एक ओर, कठमुल्ला मार्क्सवादियों से दूसरी ओर और लाभ-लोभ की समझदारी दिखानेवाले, अपना रास्ता छोड़कर स्वायत्ततावादी लेखकों के खेमे में शामिल हो जानेवाले प्रगतिशीलों से तीसरी ओर, और जीवन की घनघोर विपत्तियों से चौथी ओर। यही चौतरफ़ा घेरेबन्दी–वैचारिक और जैविक–उन्हें धीरे-धीरे त्रस्त-ध्वस्त करती है। इन्हीं के बीच में अपनी वैचारिक व्यूह-रचना बनाता हुआ कवि भारतीय मनुष्य की त्रासदियों के चित्रण के लिए अनेक प्रकार की बिम्ब-रचनाएँ करता है। ये बिम्ब-रचनाएँ ही कवि का अन्तिम शरण्य रह गई हैं। वह यह कहता ज़रूर है :

'पिस गया वह, भीतरी
औ' बाहरी
दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजेडी है नीच।'

लेकिन अपना पक्ष कभी नहीं छोड़ता। कभी भारत-माता के नए रूप की कल्पना करता है, कभी गुप्त-स्वर्णाक्षर शिवाजी जैसे गुरिल्ला की, कभी 'लकड़ी का रावण' के रूप में 'सर्व-तन्त्र-स्वतंत्र सत्-चित्, द्यौः पिता भव्य और निःसंग' सत्ता की, जिसको जलाने के लिए, नष्ट करने के लिए 'पत्थर व लोहे के रंग का कुहरा' उसकी ओर बढ़ता चला आ रहा है :

'बढ़ न जाएँ
छा न जाएँ
मेरी इस अद्वितीय
सत्ता के शिखरों पर स्वर्णाभ
हमला न कर बैठें ख़तरनाक
कुहरे के जनतंत्री
वानर ये, नर ये
समुदाय, भीड़
डार्क मासेज़ ये मॉब हैं
श्यामवर्ण मूढ़ों के दिमाग़ ख़राब हैं।'

जब यह कविता लिखी गई (1957-'63 तक) तब तक माओ-त्से-तुंग का यह नारा सामने नहीं आया था कि 'अमरीकी साम्राज्यवाद एक काग़ज़ी शेर (paper tiger) है' मुक्तिबोध की रचनात्मकता का जो स्वर्ण-काल (1950-'60) है,

वह हमारी आज़ादी का पहला दशक है, लेकिन मुक्तिबोध 'सत्ता के रावण' को अपनी अद्भुत मेधा से लगभग लक्ष्य कर लेते हैं। प्रजातांत्रिक प्रणाली में सत्ता की शक्ति कबीर की उलटबाँसी की तरह नीचे से ऊपर की ओर बहती है। एक वयस्क व्यक्ति का मत उसका प्रारम्भ है। अगर शिखर पर बैठी हुई सत्ता अपने को 'सर्व-तंत्र-स्वतंत्र, सत्+चित्, द्यौः पिता और निःसंग' समझती है तो इसमें 'भूल-ग़लती' तो उस जनता की है, जिसे सत्ता 'कुहरे के जनतंत्री' समझती है। सत्ता, वह 'लकड़ी का रावण', वह 'काग़ज़ी शेर' जनता को 'समुदाय, भीड़, 'डार्क मासेज और मॉब' समझता है। ऐसे 'लकड़ी के रावण' को यह 'डार्क मासेज' वह 'मॉब' क्या करता है? दशहरे के दिन उसे फूँक देता है और अपनी विजय का उत्सव मनाता है। मुक्तिबोध कहते हैं कि यह हमारी ही 'भूल-ग़लती' है, जिससे 'सत्ता का यह 'सर्व-तंत्र-स्वतंत्र' शहंशाह हमारे दिल के तख़्त पर बैठा, हमीं पर शासन कर रहा है। और यह शासन कैसा है? इसको मुक्तिबोध अपनी एक बहुत ख़ूबसूरत कविता 'भूल-ग़लती' में चित्रित करते हैं।

भूल ग़लती
आज बैठी है जिरह-बख़्तर पहनकर
तख़्त पर दिल के;
चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक
आँखें चिलकती हैं नुकीले तेज़ पत्थर-सी,
खड़ी हैं सिर झुकाए
सब कतारें...
...सब ख़ामोश
मनसबदार, शायर और सूफ़ी
अलग़ज़ाली, इब्ने-सिन्ना, अलबरूनी
आलिमो-फ़ाज़िल, सिपहसालार, सब सरदार
हैं ख़ामोश।

ज़ाहिर है कि इस कविता का वस्तु-तत्त्व सिर्फ़ मध्यकालीन-ऐतिहासिक ही नहीं है, उसके माध्यम से जो वस्तु-व्यंजना है, वह किसी भी दमनकारी, 'सर्व-तंत्र-स्वतंत्र' सत्ता-पुरुष की है, जिसे हमने ही अपनी भूल-ग़लती से सत्ता के उच्चतम शिखर पर बैठा दिया है और अब सभी उसके सामने ख़ामोश हैं, चुप हैं, 'अनगिनत खम्भों व मेहराबों-थमे दरबारे-आम' में सब बेज़बाँ हैं, चाहे शायर हों या सूफ़ी।

कवि यहाँ उन सारे मध्यकालीन दरबारियों की सूची अत्यन्त व्यंग्यात्मक ढंग से पेश करता है :

अलग़ज़ाली, इब्ने-सिन्ना, अलबरूनी
आलिमो-फ़ाज़िल, सिपहसालार...

सबकी बोलती बन्द है, क्योंकि सभी समझदार ग़ुलाम हैं। कॉर्ल मार्क्स इसी को अपने 'घोषणा-पत्र' में कुछ इस तरह कहते हैं–'The bourgeoisie has stripped of its halo over every occupation hitherto honoured and looked up to with reverent awe. It has converted the physician, the lawyer, the priest, the poet, the man of science into its paid wage labourers.' इसलिए ये सारे लोग बेज़ुबाँ हैं, एक सभ्य-सुसंस्कृत घिघियाहट चारों ओर फैली हुई है। चेतना पर एक धुन्ध छाई है, या यह भी हो सकता है कि एक वैचारिक, ख़ामोश धुन्ध में अपने को रखे रहना, एक नॉनकॉमिटल स्थिति में बने रहना ही अपनी गर्दन और अपनी रोज़ी बचाने के लिए सबसे बड़ी 'समझदारी' हो। 'लकड़ी का रावण' में जहाँ 'कुहरे के जनतंत्री नर-वानर', 'समुदाय-भीड़', 'डार्क मासेज़', 'मॉब' अन्ततः उस सत्ता को उखाड़कर फेंक देते हैं, वहाँ 'भूल-ग़लती' में यह सारा 'टुटपुँजिया मध्यवर्ग' यह पेटी-बुर्जुवा, यह सिंहासन के निकट छत्र-चँवर की हवा खानेवाला', मतलबी 'दढ़ियल सिपहसालार' वर्ग चुप है, और जनता, समाज और इतिहास के साथ जो दुर्घटनाएँ, जो दमन, जो अनाचार-अत्याचार हो रहे हैं, उसको चुपचाप होने देता है...और इस तरह जो चुपचाप होने देता है, ज़ाहिर है कि परोक्षतः वह उसमें शामिल है, उसमें भागीदार है। उसका भी जुर्म उतना ही है जितना हमारी ही 'भूल ग़लती' से हमारे ही 'दिल के तख़्त' पर राज करनेवाले का। 'लकड़ी का रावण' में जहाँ मुक्तिबोध उस तथाकथित 'डार्क मासेज़' को दमनकारी सत्ता के शिखर को नष्ट करने के लिए आगे बढ़ता हुआ दिखाते हैं, 'भूल-ग़लती' कविता में वे जनता के प्रतीक-पुरुष, जाग्रत् चेतनावाले एक नेतृत्व-कर्ता व्यक्तित्व की कल्पना करते हैं। अगर हमारी 'भूल' का प्रतीक आलमग़ीर है तो उसको चुनौती देनेवाला प्रतीक-पुरुष 'शिवाजी' है। वह माओ त्से तुंग, फ़िदेल कास्त्रो, ची-गुवेरा, हो-ची-मिन्ह, लेनिन या गांधी–कोई भी हो सकता है, जिसके लिए मुक्तिबोध कहते हैं :

'नामंज़ूर,
उसको ज़िन्दगी की शर्म की-सी शर्त
नामंज़ूर
हठ, इनकार का सिर तान...खुद-मुख्तार

...महसूस होता है कि वह बेनाम
बेमालूम दर्रों के इलाके में
(सच्चाई के सुनहले तेज़ अक्सों के धुँधलके में)
मुहैया कर रहा लश्कर;
हमारी हार का बदला चुकाने आएगा
संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जाएगा!'

'धरती के विकासी द्वन्द्व क्रम में' मुक्तिबोध की 'सतत उपस्थिति' इसी तरह बनती है। यही 'डार्क मासेज़' ये 'मॉब', ये 'नर-वानर', बेमालूम दर्रों के इलाके में लश्कर मुहैया करनेवाला' यह प्रतीक-पुरुष—यही एकान्तीकृत—अकेले पड़ गए कवि मुक्तिबोध के नए 'कॉडर्स' हैं, यही उनकी 'हमारी संकल्प-धर्मा चेतना का रक्त-प्लावित स्वर' है, जो 'प्रकट होकर' आनेवाले भविष्य में 'विकट' हो जाएगा। यही अब मुक्तिबोध के 'अनुज-अग्रज-मित्र' हैं। इन्हीं के लिए मुक्तिबोध का यह कथन है :

'ओ मेरे प्रियजनो
मेरे अपनो
तुम नहीं राजसिंहासनस्थ
तुम नहीं भव्य
तुम तुच्छ और तुम क्षुद्र
किन्तु तुम रुद्र
कि तुम हो भीषण क्षोभ
अग्नि के हव्य
तुम काल-सिंह-आसनस्थ।
...कि पियो दुख का विष
उस मनुष्य आमिष-आशी की जिह्वा काटो
...विश्व तराशो।

इस पूरे क्रम में मुक्तिबोध भारत-माता का भी एक नया स्वरूप खोजते नज़र आते हैं। 'एक अन्तर्कथा' इस खोज के सिलसिले में उनकी एक महत्त्वपूर्ण कविता है। इस कविता का एक सघन-व्यक्तिगत पक्ष है—एकान्त, निजी स्मृति। पिता के रिटायरमेंट के बाद ग़रीबी के आलम में मुक्तिबोध की माँ, घर के बाहर आसपास

के जंगल में, खाना पकाने के लिए, सूखी लकड़ियाँ चुनती रहती थीं। यह एक निजी, व्यक्तिगत, अति-संवेद्य घटना ही कविता का कारक है–उसका 'पहला क्षण' है। लेकिन 'दूसरे क्षण' में आते ही कविता का बीज एक सार्वभौमिक, सार्वकालिक 'फ़ैंटेसी' का रूप ले लेता है। एक नितान्त, दुखद, निजी, अकथ्य अनुभव तुरन्त अपनी बीज-भूमि से अलग होकर कथ्य का कायान्तरण कर लेता है। मुक्तिबोध उस कायान्तरण को कविता के पहले ही पैरे में बड़ी खूबसूरती से पिरो देते हैं। कविता की पहली पंक्ति के दोनों तत्सम शब्द 'अग्नि' और 'काष्ठ' अर्थगर्भित हो उठते हैं। आग और लकड़ी और रसोई और चूल्हा-विपन्नता के ये सारे बिम्ब इस तात्समिकता से तुरन्त लुप्त हो जाते हैं। 'अग्नि' शब्द एक बड़ी परिधि ग्रहण कर लेता है, लेकिन उसे हम 'अग्निमीड़े पुरोहितं' की ओर नहीं ले जा सकते। फ़ैंटेसी का आलोक दूसरी ओर सन्धानित है। उसका विचार-पक्ष (ज्ञानात्मक संवेदन) उस प्राचीन अग्नि से बिलकुल भिन्न है। और वह बहु-स्तरीय है।

'अग्नि के काष्ठ खोजती माँ
बीनती नित्य सूखे डंठल
सूखी टहनी, सूखी डालें
घूमती सभ्यता के जंगल
वह मेरी माँ
खोजती अग्नि के अधिष्ठान।'

इस तरह माँ रसोई के लिए 'सूखे डंठल' नहीं बीनती, वह 'सभ्यता के जंगलों' में घूमती हुई 'अग्नि के अधिष्ठान' एकत्र कर रही है। माँ 'सभ्यता के जंगलों में घूमती' उन साँवली-सूखी टहनियों को चुन रही है, जिनके भीतर अग्नि सन्निहित है–जल उठने की विस्फोटक क्षमता जिनके भीतर है, उन्हीं का चुनाव है। और जिनके भीतर अग्नि-क्षमता है, वही अपनी क्षमता पर पक्षी-स्वर में गाता भी है। बिम्ब कुछ यों है कि 'अग्नि के अधिष्ठान' चुनती तो माँ है, पर उनका भार वह अपने पुत्र के सिर पर रखी टोकरी में रखती है। कवि को आश्चर्य है कि उस टोकरी-विवर में पक्षियों की दबी हुई चहचह, दबा हुआ गायन सुनाई पड़ता है। माँ से पूछने पर माँ का कथन है :

'सूखी टहनी की अग्नि-क्षमता
ही गाती है पक्षी स्वर में
वह बन्द आग है खुलने को।'

अग्नि का अधिष्ठान–उसका स्पर्श, खुलने या जलने के पूर्व उसका अनुभव–उसे मुक्तिबोध अपनी कविता का उद्देश्य बताते हैं। बाहर (अग्नि-कलरव) और भीतर कवि का आत्मा एकाकार हो जाते हैं। और तब कवि का काव्य-स्वप्न, भविष्य-स्वप्न उसके रूपकों और प्रतीकों में फैलता है। इसी तरह उसकी कविता 'जगत्-समीक्षा' बनती है। एक जगह मुक्तिबोध इसको 'सभ्यता-समीक्षा' भी कहते हैं। सूखे डंठल में अग्नि, अग्नि में कलरव, कलरव में कविता, कविता में भविष्य-स्वप्न, स्वप्न में जगत्-समीक्षा, जगत्-समीक्षा में अग्निम् कोकिल राग–एक जटिल-सरल, मनोमय वातावरण–उसमें आत्मा की संगीतमय वर्षा, जिसमें 'दुनिया के सारे दरवाज़े खुलने लगते हैं।'

पूरी कविता एक स्वप्न-फ़ैंटेसी में चलती है। वास्तविक दुनिया–वृक्ष, जंगल, सूखे डंठल बीनती हुई गिरस्तिन माँ, और पीछे-पीछे सिर पर टोकरी रखे पुत्र (कवि मैं) यह सारा चित्रात्मक जगत्-बिम्ब, यह दृश्य, अपने कथ्य-रूप में जितना साधारण है, स्वप्न-फ़ैंटेसी में उठते ही उसका एक अवास्तविक, कल्पित, चित्र-विचित्र रूप चमक उठता है। तब गिरस्तिन माँ एक असाधारण, दिव्य, मानवेतर मातृ-शक्ति, एक शान्त दुर्गेश्वरी, राग शिवरंजिनी का रूप धर लेती है। तब वह जगत् के गृह-जंजाल से स्वयं को और अनुगत पुत्रात्मा को भी एक अपार्थिव संसार में ले जाकर खड़ा कर देती है। तब वह एक सन्देश है, एक तना हुआ प्रवचन है, कवि के भीतर-बाहर की दिव्य, पार्थिव-अपार्थिव अभिव्यक्ति है। तब वह कविता का अपौरुषेय साक्ष्य है। तब वह भारत-माता, विश्व-माता है। तब वह आधुनिक सभ्यता के अन्तर्विरोधों की प्रवक्ता है। तब वह दर्पण में झाँकती हुई स्त्री-शक्ति है।

'आधुनिक सभ्यता के वन में
व्यक्तित्व-वृक्ष सुविधावादी
कोमल-कोमल टहनियाँ मर गईं अनुभव-मर्मों की
अन्तर्जीवन के मूल्यवान जो संवेदन
उनका विवेक-संगत प्रयोग हो सका नहीं
कल्याणमयी करुणाएँ फेंकी गईं
रास्ते पर कचरे जैसी।
मैं चीन्ह रही उनको
जो गहन अग्नि के अधिष्ठान
हैं प्राणवान
मैं बीन रही उनको।

यह अपनों का बेगाना हो जाना, अपना पक्ष बदल लेना, लाभ-लोभ-यश-अहंकार के कारण 'समझदार' हो जाना–यानी यह पतन, सभ्यता के आधुनिक जंगल का यह निर्लज्ज सुविधावाद, जो इस कविता की रचना के लगभग पैंतालीस वर्षों बाद, अब जीने के एक नियम की तरह बन गया है–यही बेहया व्यवहारवाद कवि मुक्तिबोध (पुत्रात्मा) और माँ के एकान्तीकरण का सबसे बड़ा कारण भी है। 'पार्टनर्स की इस पॉलिटिक्स' को और उससे उत्पन्न अपने अकेले छूटते चले जाने को, सत्य के पक्ष में अकेले खड़े रहने के इस निर्विकल्प एकान्त को मुक्तिबोध ने बार-बार अपनी कविताओं, डायरियों, कहानियों, पत्रों, लेखों–यहाँ तक कि अपने उस 'महाभाष्य' में भी बार-बार व्यक्त किया है। 'अकेलापन और पार्थक्य' नामक अपनी टिप्पणी में वे एक जगह कहते हैं–'विशिष्टता के लिए उन्होंने पार्थक्य को स्वीकार किया।' अपनी एक और लम्बी कविता 'भविष्यधारा' में भी उन्हीं 'सुविधावादी व्यक्तित्व-वृक्षों' के प्रति उनका सारा अभियोग और शाप है। मुक्तिबोध अगर आज ज़िन्दा होते, तो आज इस नई शताब्दी के प्रारम्भ में देखते कि उनकी आशंका, उनका अपनी काव्य-फ़ैंटेसी के भीतर से एक प्रवचनकर्ता के रूप में बोलना, आज की दुनियादारी हो गई है। अब यह सुविधावाद आम-फ़हम है, चारों ओर चलन में है। अब कवि और चिन्तक और बुद्धिजीवी चुपचाप, अपने आचरण से इसके पक्ष में तर्क पेश करते नज़र आ रहे हैं। इन्हीं 'सुविधावादी व्यक्तित्व-वृक्षों' को मार्क्स ने अपने घोषणा-पत्र में 'समाज का थूक' कहा है। 'पेटी-बुर्जुवा' की अब एक चमकदार हैसियत है और यह गाली उन्हें खूब फ़बती और फलती है। ऐसे में जनता के पक्ष में जो अपने 'पक्ष को निस्सन्देह' कहने और उसके लिए सोचने-विचारने और खड़े होने की जुर्रत करेगा, उसकी नियति वही होगी जो मुक्तिबोध की हुई। अपनी इस नियति को, यानी एक आधुनिक, सच्चे कवि की नियति को मुक्तिबोध इस कविता में कुछ इस तरह चित्रित करते हैं :

तब समझा
हम दो
क्यों
भटका करते हैं बेगानों की तरह रास्तों पर
मिल नहीं किसी से पाते हैं
अन्तस्थ हमारे प्रेरयितृ अनुभव
जम नहीं किसी से पाते हम

फिट नहीं किसी से होते हैं
मानो असंग की ओर यात्रा असंग की।
वे लोग बहुत जो ऊपर-ऊपर चढ़ते हैं
हम नीचे-नीचे गिरते हैं
हम हैं समाज की तलछट केवल इसीलिए
हमको सर्वोज्ज्वल परम्परा चाहिए।'

ये 'हम दो' भारत-माता और उसकी पुत्रात्मा हैं; सारी जनता है, जो 'समाज की तलछट' है। और 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' किसको चाहिए? उन्हीं को, जो कुछ लोगों के लगातार 'ऊपर-ऊपर चढ़ने' से, 'नीचे-नीचे गिरते हैं' जो समाज की, मानवता की 'तलछट' हैं। यह 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' उन्हें इसलिए चाहिए, क्योंकि वही उसके वाहक होंगे। वह परम्परा कौन-सी होगी? लेनिन ने एक जगह कहा है कि किसी भी वर्ग-विभाजित समाज में दो संस्कृतियाँ (दो परम्पराएँ) होती हैं– एक लिखित-संरक्षित, और दूसरी अलिखित-असंरक्षित। ('लिखित' के सन्दर्भ में उपेक्षित, दमित-तिरस्कृत) इस द्विभाजिता को कैसे हल किया जाए? मुक्तिबोध की इस कविता में इसके काफ़ी संकेत हैं : एक ओर 'अग्नि के अधिष्ठान', सूखी राह पर पड़ी कचरे पर फेंकी गई संवेदनाएँ, उपेक्षित, दमित लोगों की साँवली सांस्कृतिक परम्परा और दूसरी ओर 'सभ्यता के वन' में 'सुविधावादी' व्यक्तित्व-वृक्षों' की सांस्कृतिक परम्परा। क्या इन्हें एकमेक किया जा सकता है? या क्या ये समानान्तर चलती रहेंगी? दोनों में गठजोड़ और समझौता-समन्वय होगा या संघर्ष? मेरा अपना ख़याल है कि संघर्ष ही होगा। जैसे-जैसे जनता की चेतना जाग्रत् होगी, वह संघर्ष के लिए तैयार होगी। मुक्तिबोध एक दूसरी कविता 'अन्तःकरण का आयतन' में इसकी तस्दीक करते हैं;

'मुझसे भागते क्यों हो,
सुकोमल काल्पनिक तल पर
नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
तुम्हारी स्वप्न-वीथी कर सकेगी क्या?
बिना संहार के सर्जन असम्भव है
समन्वय झूठ है।'

यह 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' क्या होगी? कहा जा सकता है कि जो किसी के शोषण-दमन, किसी की उपेक्षा, किसी के तिरस्कार-अपमान पर आधारित

न हो; जो शुद्ध और सर्वोच्च सामाजिक न्याय पर आधारित हो; जो मात्र एक bargaining counter न होकर सर्व-स्वीकृत हो; जिसमें समाज एक ढली हुई सुगठित इकाई हो।

यहाँ पर आकर कविता सहसा एक वक्र, चक्करदार घुमाव लेती है। टोकरी में जो अग्नि-कलरव है, वह एक नवजात शिशु के क्रन्दन में बदल जाता है। रचनाकार के रूप में मुक्तिबोध की यह आदत है कि अचानक ही वे पूर्ववर्ती बिम्ब से एक झटके से अलग हो जाते हैं। कलरव की जगह शिशु-क्रन्दन? इस नई स्थिति के प्रति कवि की खीझ व्यक्त है। कवि इस नई परम्परा के पालन-पोषण, रख-रखाव, सुरक्षा-संवर्द्धन से मानसिक रूप से पलायन करना चाहता है। उसकी निजी जीवन-शैली, उसके व्यावहारिक जीवन की असमर्थताएँ, उसके अराजक संस्कारों, उसकी स्वभावगत कमज़ोरियों और उसकी वैचारिक निष्ठा में यहाँ द्वन्द्व है। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी की यह ख़ासियत है कि वैचारिक स्तर पर जिन बातों पर यह विश्वास करता है, व्यवहार के स्तर पर कहीं दूसरी जगह छेद करके वह निकल भागना चाहता है। भारत-माता की यह पुत्रात्मा भी इस नई परम्परा को वहन करने में घबराती है। अपनी इस अनिर्णीत चेतना को कवि कुछ यों व्यक्त करता है :

'प्रिय बालक दुर्भर-दुर्धर है–यह मैं विचारता-कतराता
झखमार-खीझ औ' प्यार गुँथ रहे आपस में
...वह है मानव-परम्परा
...सुन कालिदास का कुमारसम्भव यह
...मैं जनमा जब से इस साले ने कष्ट दिया
उल्लू का पट्ठा कन्धे पर है चढ़ा हुआ।'

यह मानव-परम्परा 'मक़बूल फ़िदा हुसेन' की आत्मकथा में भी एक जगह आती है। जैसे पहाड़ी औरतें अपने बच्चे को पीठ पर बाँधे हुए चलती हैं, हमारे पूरब की औरतें कमर पर लादे या छाती और कन्धे से चिपकाए, उसी तरह महाराष्ट्र की औरतें अपने शिशुओं को टोकरी में सिर पर लिये चलती हैं। हुसेन का वर्णन भी एक स्वप्न-फ़ैंटेसी ही है–एक महान चित्रकार की स्वप्न-फ़ैंटेसी। हुसेन लिखते हैं, 'मक़बूल की माँ पंढरपुर के मेले में सिर पर टोकरी उठाए जा रही है। टोकरी ख़ाली नहीं है। उसमें छह महीने का बच्चा मक़बूल कपड़े में लिपटा सोया हुआ पड़ा है। सोए बच्चे को गोद में सँभालना मुश्किल और फिर मेले की धक्कम-

धक्की। किसी जगह भीड़ कम देखकर टोकरी सिर से उतारकर ज़मीन पर रखी। कुछ देर यों ही खड़ी रही। इधर-उधर देखती रही। उसकी छोटी बहन अभी नहीं आई। किसी घर में झाड़ू दे रही होगी। मक़बूल की माँ की नज़र सिर्फ़ दो मिनट को हटी होगी। जैसे ही नीचे टोकरी पर नज़र डाली, तो बच्चा ग़ायब। एक चीख़ मारी और उस चीख़ के साथ ही माँ की पुकार ख़ामोश हो गई, आँसू सूख गए, पाँवों की हरकत बन्द। उसी ख़ाली टोकरी के सामने खड़ी की खड़ी रह गई। दिन गुज़रते गए, महीने-साल ठहरे नहीं, और अट्ठाईस बरस की माँ अट्ठाईस की ही रही। आगे बढ़ी नहीं। लेकिन बेटा टोकरी में से निकलकर बरसों नंगे पैर दुनिया भर में फिरता रहा। अट्ठाईस साल की माँ और अट्ठासी साल का बेटा।'

बाद में पंढरपुर जाने पर हुसेन कहते हैं कि उनकी माँ तो हिन्दुस्तान की सारी दीवारों में छिपी हुई है। इसी नई मातृशक्ति को, युवा मातृशक्ति को मुक्तिबोध अपनी कविता में चित्रित करते हैं। वही अब एक नई 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' की वाहिका होगी। यह कालिदास या निराला की 'अपर्णा' से भिन्न है। यह मीथिकल, पौराणिक या रहस्यात्मक भी नहीं है। यह पन्त की 'भारत-माता' की कारुणिक-बेबस, औपनिवेशिक चित्र-छवि से भी अलग है। बल्कि वह आज़ादी के बाद की एक नई इतिहास-दृष्टि से उत्पन्न एक ऐसी गिरस्तिन माँ है, जो हमारी काव्य-परम्परा में पीछे कहीं भी चित्रित नहीं है। यथार्थ के सामान्य धरातल पर वह एक गिरस्तिन माँ है, लेकिन फ़ैंटेसी के धरातल पर उसका एक नया अति-लौकिक उत्थान है। वह बुद्धि-ज्ञान सम्पन्न, विवेक-दर्शिनी, सत्य-शोधिका, अनभय और 'तलछट' की प्रवक्ता, 'सभ्यता के जंगल' में एक नव-संगठन का स्वप्न सार्थक करती, नई संस्कृति के निर्माण में प्रयत्नशील एक 'जगत्-समीक्षा' है। वह वाक् का एक नया ट्रेनिंग-सेंटर है, चिन्तन-समर्पण और निर्णय की उच्च-भूमि है। वह विचार का नवोन्मेष है। वह एक समानान्तर सत्ता का उपमान है। फिर भी अतिसाधारण, निपट यथार्थ, जानी-पहचानी रोज़मर्रा की सच्चाई है।

अन्ततः मुक्तिबोध का स्वप्न इस नई 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' के बारे में क्या है? जिस समय यह कविता लिखी जा रही थी, उसी के आसपास अलबर्ट आइंस्टाइन ने अपने एक आलेख में लिखा, The result of these developments is an oligarchy of private capital, the enormous power of which cannot be effectively checked even by a democratically organised political society... The consequence is that the representatives of the people do not in fact sufficiently protect the interests of the underprivileged

sections of population. Technological progress frequently results in more unemployment, ... The crippling of individuals I consider the worst evil of capitalism.. I am convinced there is only one way to eliminate these grave evils namely through the establishment of socialist economy, accompanied by an educational system which would he oriented towards social goals.' ('Why socialism')

मुक्तिबोध की 'सर्वोज्ज्वल परम्परा' की चिन्ता इसी भूमि पर आधारित है। अगर ऐसा नहीं होता तो वही होगा जैसा कि मुक्तिबोध इन पंक्तियों में कहते हैं :

और भद्रता के हाथों में तुला-दंड है
और हवेली के हाथों में मान-मूल्य है
और भद्रता के आँगन में हमें बदा है
लिये बाल-बच्चे कन्धे पर सिर्फ काँपना।

●

उन्हें युद्ध की ही करने दो बात

'उन्हें युद्ध की ही करने दो बात
चाँद की बात करें हम
सूत्र निकालें, गणित जमाएँ
अज्ञातों को ज्ञात हम करें।
फिर उन ज्ञातों से अगले सब अज्ञातों तक
सपनों की ऊँची मंज़िल पर
जीवन-कार्यालय में
करें भविष्य सुरक्षित
रोएँ वे जो रखते अपने अदृश्य अपराधी ईश्वर से
ऐसा-वैसा सरोकार
आँख पोंछकर
उन्हें युद्ध की ही करने दो बात
हाइट्रोजन-बम, नाइट्रोजन बम
रासायनिक बमों के सब आघात।'

यह कविता आज से लगभग 45 वर्ष पूर्व अपनी असमय मृत्यु के लगभग 2 वर्ष पहले हमारे इस कवि ने लिखी थी। कविता अप्रकाशित रही और सन् '82 में पहली बार छपी। आज सन् 2004 में यानी दुनिया के 21वीं सदी में उतर आने (या चढ़ जाने) के बाद हमें लगता है कि हमारा यह आदर्शवादी कवि, अपने सिद्धान्तों और अपनी आस्थाओं के लिए अपनी आत्मबलि देनेवाला कवि कितना भोला था। आज की दुनिया में इतनी भोली और अच्छी बातें सम्भव नहीं दीखतीं। स्वप्न देखना इतना सरल और आसान नहीं रह गया है। युद्ध की बातें करनेवालों का अपने ईश्वर से जैसा-तैसा भी सरोकार हो, वे आँखें नहीं पोंछ रहे हैं : और इतना ही नहीं, वे आपको यह छूट देने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि आप 'सूत्र

निकालें, गणित जमाएँ' और ज्ञात को अज्ञात की खोज तक ले जाकर 'भविष्य' को कहीं उच्चतर मानवता के कर्मण्य कार्यालय में 'सुरक्षित' रख सकें। नहीं, इसकी आज़ादी भी आपको नहीं है। सब कुछ उनकी मर्ज़ी पर निर्भर करता है।

वे लोग कौन हैं–आप जानते हैं, फिर भी मुझे अपने तर्क पर आने के लिए उनकी बात करनी आवश्यक होगी।

लेकिन उससे पहले कुछ और बातें जिनसे अपनी बात तक पहुँचा जा सकता है।

1. '21वीं सदी में भारत' इसका क्या मतलब है? फ़िलहाल सिर्फ़ इतना कि जहाँ हम खड़े हैं 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध के 'हैंगोवर' में खड़े हैं। एक अच्छी-बुरी विरासत-उत्तराधिकार, व्यक्तित्व लेकर खड़े हैं। इक्कीसवीं सदी में पदार्पण का अभी कुछ भी मतलब नहीं है सिवा बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के 'हैंगोवर' के। और 'हैंगोवर' में कई बार उलटी भी आती है।
2. दूसरी बात, इक्कीसवीं सदी में, अब हम दुनिया (Globe) से अलग अपना अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकते। हमारी नियति दुनिया की नियति से बँधी है। यानी किसी भी प्रभुसत्ता-सम्पन्न देश की यह स्थिति नहीं है कि वह सिर्फ़ अपने लिए शान्ति के आदर्श की रक्षा कर सके। इस सम्बन्ध में शोषितों और शोषकों की नियति एक है। अगर विश्व अर्थ-व्यवस्था के इजारेदार चाहें कि वे अपने लिए शान्ति बनाए रखें तो यह सिर्फ़ शोषितों के और अधिक दमन से ही सम्भव होगी। तब ऐसी शान्ति ख़ून-ख़राबे, क़त्लो-ग़ारत और असाधारण विनाश के मलबे पर ही खड़ी होगी। यानी ऐसी शान्ति एक अन्यायपूर्ण युद्ध का उच्छिष्ट या वमन मात्र होगी।

ऐसे में शान्ति का सौन्दर्यशास्त्र क्या है?

कल तक हम 'इंडिया-एशिया' के एस्थेटिक्स पर बहस कर रहे थे। मुझे लगा कि 'इंडिया-एशिया' जीवित-अतीत नहीं हैं। वे अतीत के मलबे हैं। वे 'आज' नहीं हैं, वर्तमान में उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। क्या सौन्दर्यशास्त्र सिर्फ़ मृत अतीत का ही होता है? If past separates me from the present it is wrong, if it gives me an identity it is all right. मुझे ऐसा लगा कि पॉल-पॉट जैसा नर-संहारक कम्बोडिया में कभी नहीं हुआ, लाखों मानव खोपड़ियों की कब्रें किसी और ग्रह पर हैं, युद्ध-ग्रस्त कम्बोडिया से सिंहनुक का आत्म-निर्वासन कभी नहीं हुआ, अफ़गानिस्तान का आधुनिक पद्मसम्भव कौन है? क्या सी.आई.ए. द्वारा प्रस्तावित

हमीद करज़ई? या दज़ला-फ़रात की महान सभ्यताओं का उत्तराधिकारी कौन है? फिर उसी सी.आई.ए. द्वारा प्रस्थापित ईयाद अलवई? अतीत को खँडहरों के बहस में तब्दील करना, मिथकों और रूपकों के रहते हुए इतिहास के अग्रगामी स्वप्न को नज़रअन्दाज़ करना कहाँ तक उचित होगा? अभिनवगुप्त का कोई 'सहृदय' क्या इतना हृदयहीन है कि उसे कश्मीर में पिछले 15 वर्षों में मारे गए 70,000 लोगों और उनके परिवारों से कोई सहानुभूति नहीं? या सरदार-सरोवर के निर्माण से 80 किलोमीटर भीलों वाला जो इलाका डूब में आ गया है, और जिसके लिए मेधा पाटकर संघर्ष करते-करते बूढ़ी हो गईं–उन आदिवासी भीलों के लिए? जर्मनी को बाँटनेवाली दीवार के टूटने के बाद अब इस्राइल फ़िलिस्तीनियों को अलग करने के लिए दुनिया में एक नई दीवार बना रहा है। उससे पीने के पानी के अधिकांश स्रोतों से फ़िलिस्तीनी लोग महरूम हो जाएँगे। एक नया 'कर्बला' फिर दुहराया जाने वाला है–शान्ति और सुरक्षा के नाम पर 'हुसैन' का एक नया 'शोक गीत'। ब्राज़ील और हिन्दुस्तान के भूमिहीनों की लड़ाई के बारे में शायद सभी परिचित होंगे और तिब्बत, चेचेन्या, मैक्सिको या खँडहर इराक, बालीद्वीप का विस्फोट या फ़िलीपीन्स में प्रजातांत्रिक ढंग से चुने गए भारतीय मूल के प्रधानमंत्री चौधरी के बारे में भी लोगों को जानकारी होगी। भारत में विनिवेशीकरण का विरोध या दक्षिण अफ़्रीका में निजीकरण के ख़िलाफ़ मोबीकी सरकार का विरोध-मैं जानता हूँ ये सब बातें साहित्यकारों को निरर्थक, बेकार और हास्यास्पद लग रही होंगी। इससे क्या बात बनी? जी हाँ, इसी में शान्ति का सौन्दर्यशास्त्र या शान्ति का 'रसाभास' छिपा है। शान्ति का सौन्दर्यशास्त्र या उसका विनष्टशास्त्र वैश्विक इजारेदार पूँजी (Corporate world) है, जिसका नियन्ता अमेरिकी साम्राज्यवाद और पश्चिमी योरोप है। विश्व-शान्ति अब अर्थशास्त्र का सवाल ज़्यादा है, फ़ौज उसके पीछे-पीछे आती है। दुनिया के वे सारे देश (और इसमें दुनिया के अधिकांश देश आते हैं।) जो औपनिवेशिक-साम्राज्यवादी शोषण के शिकार रहे हैं, आज 'ऋण के महाजाल' (debt-trap) में फँसे हैं। इंटरनेट बताता है कि सारी दुनिया के क़र्ज़दार देशों को प्रतिवर्ष 382 बिलियन सूद में चुकाना पड़ता है। प्रेमचन्द की 'महाजनी सभ्यता' का सूदख़ोर महाजन अब अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी सूदख़ोर में बदल गया है। कबीर कहता है :

राई से पर्वत भया
मैं तो भया उदास।

तो ऐसी ही बात है। इंटरनेट यह भी बताता है कि दुनिया के महज़ 588 परिवारों के पास दुनिया की $1.9 ट्रिलियन पूँजी है। तो स्थिति यह है कि 'धनी' और 'धनी' होते जा रहे हैं और 'गरीब' और 'गरीब'। और अरुंधती रॉय के अनुसार यह उनके 'दुर्भाग्यवश' नहीं बल्कि 'उद्देश्यगत' (designed) और 'जानाबूझा षड्यंत्र' है। एक जो 'वित्तीय पूँजी' (Financial Capital) नाम की चीज है, उसे अब उड़न पूँजी (Flight Capital) भी कहने लगे हैं, वह रातोरात किसी देश को बर्बाद कर सकती है। किसी भी चुनी हुई प्रजातांत्रिक व्यवस्था या फ़ौजी प्रशासन या 'किंगशिप', किसी को ढाई मिनट में पटखनी दे सकती है। मेरे एक मित्र जो ब्यूनसआयर्स में रहते हैं, रात को 25,000 पेसो तकिए के नीचे रखकर सोए और सुबह जादू से, फ़्लाइट कैपिटल, के जादू से 500 पेसो रह गए। तो जहाँ ऐसा उलट-फेर रातोंरात सम्भव है वहाँ शान्ति एक स्वप्न है। अतः विश्व-शान्ति का प्रश्न आज एक आर्थिक प्रश्न है। सारा लैटिन अमेरिका, अफ़्रीका और एशिया (चीन और जापान को छोड़ दें) आज इस क़र्ज़दारी और उड़न-पूँजी के ग़ुलाम हैं और उनका प्रभुसत्ता-सम्पन्न होना एक नाटक है, एक 'हें-हें-हें' है। तब ये तथाकथित प्रभु-सत्ता-सम्पन्न देश अपनी प्रभुसत्ता-सम्पन्नता का नाट्य करते हुए स्वतंत्रता, राष्ट्राभिमान और देश की एकता के नाम पर अपनी जातियताओं का दमन करते हैं। उनके 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलनों' को बर्बरतापूर्वक कुचल देते हैं। भारतीय प्रजातंत्र में इन जातीयताओं की ज़रूरी माँगों और स्वायत्तता और आत्मसम्मान को कुचलने के लिए कितने कानून हैं :

1. Armed Forces special power Act. जिसमें जब चाहें किसी को ज़रा सा शक होने पर, या न होने पर भी गोली मार सकते हैं।
2. Public security Act. कश्मीर और उत्तर-पूर्व भारत में रोज़ ही इसका उपयोग होता है।
3. Special Area Security Act. जिसका उपयोग फ़िजो के ज़माने में नागालैंड में हुआ, और अब भी उत्तरपूर्व और कश्मीर में जारी है।
4. TADA जो अब ख़त्म हो चुका, और जिसकी कारगुज़ारियाँ सबको मालूम हैं।
5. POTA जिसने टाडा की जगह ली और जिसके अन्तर्गत दिल्ली सरकार ने क्या-क्या कारगुज़ारियाँ कीं!

तो '21वीं सदी में भारत' में शान्ति का आदर्श कैसा दिखता है? सिर्फ़ 2001 से 2004 तक?

1. आन्ध्र में जहाँ की राजधानी चन्द्रबाबू के ज़माने में एक साइबर सिटी का दर्जा ले रही थी। विश्व-बैंक, एशियन विकास बैंक, फ़ोर्ड फाउंडेशन का कर्जा पानी की तरह खुला हुआ था, वहाँ 200 तथाकथित आतंकवादी तथाकथित 'मुठभेड़ों' (Encounters) में मारे गए हैं।
2. कश्मीर में पिछले 4 सालों की संख्या 11,000 हज़ार है। ज़ाहिर है कि यह सभी पाकिस्तान से आए आतंकवादी नहीं हैं। भारत सरकार के अनुसार इस वक्त कश्मीर में 2000 से 2500 आतंकवादी बाहर-भीतर के मिलाकर हैं, जिनसे सुरक्षा के लिए 5,00,000 (पाँच लाख) फ़ौज लगी हुई है। दिल्ली यूनिवर्सिटी के एक लेक्चरर श्री अब्दुर्रहमान गिलानी जो अरबी के बहुत बड़े विद्वान हैं, पार्लियामेंट पर आक्रमण में जब धरे गए तो उन्हें जो (POTA) याएताएँ दी गईं और फाँसी की सजा से हाईकोर्ट से छूटने के बाद, जब अभी पिछले महीने उन्होंने अपनी यातनाओं और संघर्ष की एक प्रदर्शनी दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर में लगानी चाही तो पुलिस ने उन्हें और उनके सहयोगियों को खदेड़ दिया। जब वे जेल में थे, तो उनको 'पक्कों', से कई बार मरवाने की कोशिश की गई। उनके परिवार को दिल्ली में कोई किराए पर मकान देने को तैयार नहीं था। दिल्ली का कोई भी स्कूल उनके बच्चों को दाख़िला देने को तैयार नहीं हुआ। तो ये है एक प्रभुसत्ता सम्पन्न देश का नागरिक की हैसियत और उसका आत्मसम्मान। अभी पिछले दिनों एक फ़ौजी द्वारा एक स्त्री के बलात्कार के सन्दर्भ में वहाँ की औरतों ने नंगे होकर आवाहन किया कि 'आओ हमारे साथ बलात्कार करो।' उत्तर प्रदेश के राबर्ट्सगंज ज़िले में 15 आदिवासियों की हत्या इसलिए की कि वे पी.डब्ल्यू.जी. से सहानुभूति रखते थे। गुजरात में 2000 में मुसलमानों की हत्याएँ और 1,50,000 बेघर। 'पोटा' में 288 लोग। उसमें 287 मुसलमान, सोचिए मुसलमान और सिख। झारखंड में 3300 आदिवासी एम.सी.सी. के नाम पर जेल में।

यह है 'इक्कीसवीं सदी के भारत' की एक तस्वीर और शान्ति का, विश्वशान्ति का आदर्श। अभी तो यह शुरुआत है। शायर कहता है :

इब्दिता-ए इश्क होता है, रोता है क्या!
आगे-आगे देखिए, होता है क्या!

लेकिन हम इतने हताश आदमी नहीं हैं। हम सोचते-विचारते हैं, लेकिन उस पुराने आप्तवचन को उलटकर यों कहने का अधिकार रखना चाहते हैं :

सत्यं ब्रूयात्
अप्रियं ब्रूयात्
न ब्रूयात
असत्यं-प्रियं।

तो सबको प्रिय लगनेवाला 'असत्य' हम नहीं बोलते। अप्रिय सत्य बोलने का अपना अधिकार हम नहीं छोड़ना चाहते।

कुछ लोगों ने 'विश्वशान्ति' के प्रश्न को महात्मा गांधी, नेहरू और मार्क्स के सन्दर्भ में रखकर देखने को कहा है। देखिए साहबान, दुनिया में ग़ैरबराबरी के रहते हुए शान्ति सम्भव नहीं है। मार्क्स के बहुत विस्तार में यानी 'जर्मन आइडियालॉजी', '18th ब्रुमेर', '1844 की पांडुलिपियाँ', और 'पूँजी' में न जा कर मैं उनके मैनीफ़ेस्टो का अन्तिम अंश उद्धृत करना चाहता हूँ :

Instead of capitalist society and its class - antagonisms we shall have an association where the free development of each will be the precondition for the free development of all.

शान्ति का-विश्वशान्ति का सन्देश तो यहाँ है, इस कथन में है। लेकिन यह तो सिद्धान्त वाक्य है। मार्क्स केवल सिद्धान्त के रचयिता और उसके व्याख्याकार ही नहीं थे, वे दुनिया को बदलना भी चाहते थे। मैं नहीं जानता कि अगर वे आज होते तो मानवता के शोषण, ग़ैरबराबरी, इजारेदारी और अपमान से मुक्ति का कौन सा रास्ता सुझाते? शीत युद्ध का–जिसका सिद्धान्त शक्ति सन्तुलन का था, एक कमज़ोर किस्म की धमकी-भरी शान्ति को बनाए रखने का सिद्धान्त था। शीत युद्ध के ज़माने को विद्वान लोग बहुत खराब ज़माना मानते हैं। अगर वह ज़माना नहीं होता तो क्यूबा-प्रशासन, फ़िदेल कॉस्त्रो का अन्त हो गया होता। जब राष्ट्रसंघ के निर्णयों का अमेरिकी साम्राज्यवाद खुला उल्लंघन कर रहा है तो लोगों की समझ में आ रहा है। इराक युद्ध के पहले दुनिया भर के करीब 50 लाख लोगों ने युद्ध के ख़िलाफ़ शान्तिपूर्ण प्रदर्शन किए थे। इसमें इंग्लैंड और अमेरिका की जनता भी शामिल थी। लेकिन क्या हुआ? राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव रद्दी की टोकरी में, दुनिया भर की जनता का 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' रद्दी की टोकरी में। और इराक को एक खँडहर में, अराजकता में तब्दील करके छोड़ दिया गया। क्या होगा? बाद में टोनी ब्लेयर अपनी संसद में माफ़ी माँग लेंगे और बुश अपने लोगों

से कह देंगे कि 'हमें गलत सूचनाएँ थीं'। बड़े जॉर्ज बुश ने अपने समय में एक बार कहा था, 'मैं अमेरिका के लिए कभी भी माफ़ी नहीं माँगूँगा। मुझे इसकी परवाह नहीं है कि तथ्य क्या थे और दुनिया क्या कहेगी।' यह डिस्पॉटिज़्म है। यह धौंस है, यह दुनिया के एकध्रुवीय हो जाने का परिणाम है, जो एक दिन 'स्वतंत्रता', 'प्रजातंत्र' के नारे को छोड़कर 'नस्लवाद' तक जा सकता है। जब 1987 में राष्ट्रसंघ महासभा ने आतंकवाद के खिलाफ अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया जिसमें दुनिया के 153 देशों ने 'आतंकवाद के ख़िलाफ़' मतदान दिया, उसमें दो देशों ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया–अमेरिका और इज़राइल। क्यों? क्योंकि उनमें 'आत्मनिर्णय' और 'स्वतंत्रता' की बातें थीं। आज आतंकवाद के ख़िलाफ़ सबसे ज़्यादा कौन देश चिल्ला रहा है? अमेरिका। आज अमेरिका में 'भय' चार रंगों में वितरित है। सुबह उठकर लोग पहले यह देखते हैं कि आज किस रंग की पताका फहरा रही है। लोग उसी हिसाब से अपने दिन भर का कार्यक्रम तय करते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की यह 'इनसाइड पॉलिटिक्स' है जहाँ आपकी सत्ता को उलट देनेवाला आपकी सीमाओं के भीतर, आपके घर में, आपके पास ही कहीं छुपा है। और वह अदृश्य मि. एक्स है। आप हर वक्त उसकी नज़र में हैं लेकिन वह आपकी नज़र में नहीं है। तब क्या होता है? आप गुस्से से किटकिटाकर निरपराध लोगों का वध करते हैं तब अबू ग़रीब, ग्वातेमाला की हत्यारी और भयावह अमानवीय जेलों का निर्माण होता है। तब प्रतिबन्ध लगाकर एक देश के तीस लाख बच्चों को मार दिया जाता है और बाद में जैविक हथियारों के नाम पर उस देश को नेस्तनाबूद कर दिया जाता है।

तो इस एकध्रुवीय दुनिया का इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में यह हाल है। अभी दो-तीन दिन पहले 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में एक ख़बर थी–'Bush kerry are in same secret club. It is called 'skulls and bones', मित्रो, वहाँ कुछ भी होता हो, शब्दों के दूरागत व्यंग्यार्थ भी होते हैं। 'खोपड़ियों और हड्डियों' के बिम्ब क्या कहते हैं?

तब कौन-सा रास्ता है? क्या कोई रास्ता है? दयाकृष्ण जी ने एक बहुत बड़ी बात कही थी, जैसा हमेशा वे अपने आत्मालापों में कहते हैं; Gandhi was not interested in state, he was trying to tame power, he was always interested in Transforming man. 'मनुष्य का आत्मसुधार' जिसे गांधी जी हृदय-परिवर्तन भी कहते हैं। यह कि अगर अन्याय और अधर्म के ख़िलाफ़ हम

'सविनय अवज्ञा' का रास्ता अपनाते हैं तो दूसरे को भी, ताकतवर को भी सोचना पड़ेगा। वह सोचता है, आत्म-सुधार करता है या दमन का रास्ता अपनाता है, यह तो उस पर निर्भर करता है जो शक्ति-सम्पन्न है। 'दमन', 'शोषण', और 'ग़ैरबराबरी' के ख़िलाफ़ सोचने के लिए 'कॉरपोरेट विश्व' और साम्राज्यवाद को हम आज अकेले बाध्य नहीं कर सकते, उसमें सारी दुनिया की जनता को शामिल करना होगा। जब इस वर्ष 'वर्ल्ड सोशल फ़ोरम' का चौथा सम्मेलन मुम्बई में हुआ तो उसमें दुनिया भर से दो लाख लोग शामिल हुए–'एक दूसरी दुनिया सम्भव है', आप जानते हैं, यह W.S.F. का मुख्य नारा था। यह एक स्वप्न है, एक एहसास है, एक खुली आँख का सपना है, एक 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन है, जो पोर्तो एलेग्रे से शुरू होकर मुम्बई तक पहुँचा था। साफ़ बात है, अगर 'कॉरपोरेट विश्व' और साम्राज्यवाद इस 'दूसरी दुनिया' के सपने को सम्भव नहीं होने देंगे तो विश्व-शान्ति की सारी बहसें और प्रस्ताव और व्याख्याएँ एक बौद्धिक-विलास में तब्दील होकर रह जाएँगी और आज के ज़माने में आशा रखना कितना हास्यास्पद है। फिर भी हम आशा रखते हैं। आज से लगभग 150 वर्ष पहले एशिया के महान कवि मिर्ज़ा ग़ालिब ने कहा था :

'हर चन्द सुबुक-दस्त हुए बुत्-शिकनी में
हम हैं, तो अभी राह में हैं संग-ए-गिराँ और।'

●

'अँधेरे में'

अब यह निर्विवाद सत्य है कि मुक्तिबोध निराला के बाद हिन्दी के सबसे महत्त्वपूर्ण और यदि कहा जाए तो सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यद्यपि एक कवि के रूप में उन्हें स्वीकृति बहुत देर में मिली। वे 'तार सप्तक' के एक कवि ज़रूर हैं और यह भी सच है कि 'तार सप्तक' की परिकल्पना आरम्भ में माचवे, नेमिचन्द्र जैन और मुक्तिबोध की ही थी। लेकिन बावजूद इसके मुक्तिबोध अपने समय में एक अन्यमनस्क कवि हैं। वे नई कविता के हल्ले-गुल्ले में कहीं भी सुनाई नहीं देते। अपनी सतत रचना-धर्मिता के बावजूद वे लगभग, अपने समय में, उपेक्षित ही रहे। यह दुर्भाग्य और दुख की बात है कि जब उनका पहला कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' सन् 1964 में 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित हुआ तो मुक्तिबोध 'भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' में बेहोश पड़े थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में अपना कोई भी काव्य-संग्रह प्रकाशित रूप में नहीं देखा।

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर, 1917 को ग्वालियर के श्योपुर कस्बे में एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा मामूली तौर पर हुई। घर में अटूट विपन्नता का साम्राज्य था। 1939 में उन्होंने अपनी ज़िद पर अन्तर्जातीय प्रेम-विवाह किया। जीविका की खोज में मुक्तिबोध शुजालपुर, उज्जैन, कलकत्ता, इन्दौर, बम्बई, बंगलौर, बनारस, इलाहाबाद, जबलपुर, नागपुर आदिनगरों में भटकते रहे। कहीं मास्टरी तो कहीं पत्रकारिता, वायुसेना, रेडियो और कम्युनिस्ट पार्टी में। कुछ दिनों तक सूचना और प्रकाशन विभाग में भी काम किया। अन्ततः मित्रों की ज़िद पर बहुत देर में उन्होंने सन् 1953 में एम.ए. किया। उसके बाद उन्हें दिग्विजय महाविद्यालय, राजनाँदगाँव में अध्यापन कार्य मिला। कुछ निश्चित हुए, अधूरी कविताओं पर काम शुरू किया लेकिन तभी बीमारी ने धर-दबोचा। बेहोशी की अवस्था में ही तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री की पहल पर वे चिकित्सा के लिए दिल्ली लाए गए। आयुर्विज्ञान में डॉक्टरों

ने बताया, उन्हें 'ट्यूबरकुलर मेनिनजाइटिस' है। अस्पताल में वे कभी भी पूरी तरह होश में नहीं आए। बेहोशी में कभी-कभी वे बुदबुदाते ज़रूर थे...'तुम उनका दमन क्यों कर रहे हो'...ऐसा ही कुछ और कभी और कुछ। अन्त में वहीं 11 सितम्बर, 1964 को उनका देहावसान हुआ।

छिटपुट पत्र-पत्रिकाओं के अलावा मुक्तिबोध का कोई भी काव्य-संग्रह उनके जीवन-काल में, उनकी चैतन्य अवस्था में प्रकाशित नहीं हो पाया। उसकी बहुत सी वजहें हैं। सबसे बड़ी वजह थी कि वे अपने समय की हिन्दी कविता के माहौल से एकदम अलग तरह के कवि थे। उनकी कविताएँ प्रायः लम्बी, ऊबड़-खाबड़, लोक-बिम्बों, वर्णनात्मक अतिरेकों और अछूते प्रयोगों के कारण इतनी अलग-थलग दिखती थीं कि पाठक और आलोचक हैरत में पड़ जाते थे। इतने बड़े कवि को विश्लेषित करने, उसे समझने-बूझने, उसे अपनाने और उसके भीतरी स्रोतों की तलाश करने की जगह लोगों, आलोचकों और पत्रकारिता के संसार ने एक बेरुख़ी का भाव उनके प्रति अख़्तियार किया। नेमिचन्द्र जैन, माचवे और उनके अन्य कुछ मित्रों को छोड़ दें तो, हिन्दी की व्यक्तिवादी 'नई कविता', जो प्रयोगवाद के गर्भ से एक चमत्कारपूर्ण बालक की तरह जन्मी थी, उसके लिए मुक्तिबोध के होने का कोई अर्थ नहीं था। क्योंकि मुक्तिबोध को 'नई कविता' के घेरे में बन्द करना और खपाना कुछ-कुछ वैसा ही असम्भव था जैसा कि निराला को छायावादी कोटर में बन्द करने का प्रयत्न। अपनी अछूती, अनहोनी वस्तु-संवेदना और एक कथात्मक, वातावरण-सिद्ध काव्यशिल्प के कारण मुक्तिबोध तत्कालीन नई कविता की संवेदना से कुछ इतने अलग पड़ते हैं कि उनके लिए कविता का नया शास्त्र तलाश करना पड़ेगा।

मुक्तिबोध की समग्र रचनाओं का प्रकाशन अब 'मुक्तिबोध रचनावली' नाम से छह खंडों में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है। इसके सम्पादक उनके मित्र और कवि श्री नेमिचन्द्र जैन हैं। यह उन्हीं के अनवरत-अटूट परिश्रम का फल है कि आज मुक्तिबोध हमें सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। इसके अलावा भी उनकी रचनाओं के गद्य-पद्य संकलन अलग-अलग शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं और प्रकाशित हो रहे हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'भूरी-भूरी खाक-धूल', 'कामायनी एक पुनर्विचार', 'एक साहित्यिक की डायरी, 'नई कविता का सौन्दर्यशास्त्र'...उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद, उनके महत्त्व और उनकी श्रेष्ठता का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि उनके पहले कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' के 1964 से 1988 तक 9 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह

सौभाग्य आधुनिक हिन्दी कविता के और किसी भी कवि को नहीं मिला। 'मुक्तिबोध रचनावली' के भी इतने कम समय में दो संस्करण हो चुके हैं।

'अँधेरे में' मुक्तिबोध की सर्वश्रेष्ठ कविता है। पहले इसका नाम उन्होंने 'आशंका के द्वीप, अँधेरे में' रखा था। इस शीर्षक से सम्भवतः वे कविता की अन्तर्वस्तु का निकट-संकेत करना चाहते थे। क्योंकि पूरी कविता में आज़ादी के बाद की विकसित होनेवाली स्थितियों पर शंका प्रकट की गई है। बाद में उनके कहने पर श्रीकान्त वर्मा ने शीर्षक से 'आशंका के द्वीप' हटा दिया। इस कविता के तीन प्रारूप प्रकाशित हुए। पहला 'कल्पना' पत्रिका में, दूसरा 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में और तीसरा 'रचनावली' में। नेमिचन्द्र जैन का मानना है कि 'रचनावली' में छपा पाठ ही अन्तिम है। 'कल्पना' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' पाठों को मिलाकर उन्होंने यह तीसरा पाठ तैयार किया था। तीनों प्रारूपों को मिलाकर पढ़ना अपने-आपमें एक दिलचस्प अध्ययन है और मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया पर नई-नई बातें की जा सकती हैं। लेकिन यह तो सच ही है कि 'रचनावली' में छपा प्रारूप ही सबसे अच्छा और सम्पूर्ण है। वास्तव में मुक्तिबोध अपनी प्रत्येक कविता अनेकों बार लिखते रहते थे। उनको काटते-छाँटते, सजाते-सँवारते रहते थे। इस तरह अनेक कविताओं के कई-कई प्रारूप उनकी फ़ाइलों में मिले हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर बड़े कवि की तरह मुक्तिबोध भी एक ही कविता, अनेक कविताओं के रूप में, बार-बार लिख रहे थे। उनकी सारी कविताएँ 'अँधेरे में' तक पहुँचने की कड़ी हैं। एक तरह का पूर्वाभ्यास हैं। इसलिए 'अँधेरे में' की अनेक बिम्ब-मालाएँ दूसरी कविताओं में चक्कर लगाती दिखाई देती हैं। यही हाल दूसरी अधिकांश कविताओं का भी है। वे परस्पर अन्तर्गुम्फित हैं–कुछ इस तरह कि एक ही महान कविता की अलग-अलग कड़ियाँ लगती हैं। 'अँधेरे में' उनके रचना-कर्म और श्रम दोनों का अन्तिम योग है। विचार और शिल्प और बिम्ब-प्रतीक और वातावरण-विवरण कुल मिलाकर यह उनकी सबसे सुगठित और परिपूर्ण रचना है।

मुक्तिबोध की हर कविता में एक कथा भी होती है। कथा होने के कारण विवरण तथा घटनाएँ यानी उनका आना अनिवार्य हो जाता है। किसी अच्छी और सघन कहानी की तरह उनकी कविताओं का विकास इन्हीं विवरण और घटनाओं के भीतर से होता है। एक कविता में विवरण और घटनाओं का आना, आज की कविता में एक कमज़ोरी भी मानी जाती है। क्योंकि गद्य ने प्रकट होकर कविता से घटनाओं को निकाल दिया है। महाकाव्यों और कथा-काव्यों का युग समाप्त होने के साथ ही

विवरण और घटनाएँ लगभग आधुनिक कविता से निष्कासित कर दिए गए हैं। लेकिन मुक्तिबोध अपनी हर कविता में इस 'क्लासिकल' तरीके का इस्तेमाल करते हैं और बखूबी करते हैं। इसीलिए उनकी कविताएँ अक्रमबद्ध 'महाकाव्यों के पन्ने'...बिखरे हुए, हवा में उड़ते हुए पन्ने लगते हैं। लेकिन विवरण और घटनाओं को मुक्तिबोध एक सघन बिम्ब-विधान के भीतर से प्रस्तुत करते हैं। जहाँ बिम्ब नहीं होते वहाँ विवरण या घटनाएँ एक वातावरण-चित्रण का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह कुछ भी नीरस नहीं रह जाता है :

यह सिविल लाइन्स है। मैं अपने कमरे में
यहाँ पड़ा हुआ हूँ।
आँखें खुली हुई हैं।
पीटे गए बालक-सा मार खाया चेहरा
उदास, इकहरा
स्लेट-पट्टी पर खींची गई तस्वीर
भूत जैसी आकृति–
क्या वह मैं हूँ?
मैं हूँ?

'अँधेरे में' भी, यहाँ से वहाँ तक एक कथा है और उस कथा के विकास-क्रम में आनेवाली अनेक घटनाएँ हैं। कहा जा सकता है कि यह कविता एक श्रेष्ठ कथा-काव्य का नमूना है। लेकिन यह कथा कहीं इतिहास-पुराण से नहीं ली गई है। इसके लिए कोई भी पूर्व आधार नहीं है। बल्कि यह स्वरचित, सर्वथा नई और अति मौलिक है। कथा-काव्य होने के कारण कहीं घटनाएँ और विवरण नीरस न हो जाएँ, कवि उन्हें एक स्वप्न-फ़ैंटेसी में बुनता है। पूरी कविता में दो तहें हैं। जो अघटित, अविश्वसनीय और चामत्कारिक है वह सपने में घटित होता है और फिर उसे यथार्थ–वर्तमान से जोड़ने, उसकी व्याख्या करने, उसका महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए कवि बार-बार जाग्रत् अवस्था का सहारा लेता है। इस तरह कविता में स्वप्न और जागरण बारी-बारी से चलते रहते हैं और उन्हीं के भीतर से कविता का एक अनहोना विकास होता है। अतः कह सकते हैं कि 'अँधेरे में' एक 'स्वप्न-फ़ैंटेसी' है। एक ऐसी 'स्वप्न-फ़ैंटेसी' जो आज़ादी के बाद की सारी कथा-व्यथा को अपने भीतर समेटे हुए है। और जो आज़ादी के बाद की भारतीय जीवन-शैली का सम्पूर्ण सार-तत्त्व प्रस्तुत करती है।

'अँधेरे में' आज़ादी के बाद के भारतीय जीवन के कुहरे मे एक 'रक्तालोक स्नात पुरुष' की खोज की कविता है। एक ऐसा व्यक्तित्व, जो भारतीय जीवन और समाज और राजनीति के अन्तर्विरोधों को सही और सकारात्मक दिशा में मोड़ सके। वह व्यक्ति हम सबके भीतर है। वह बार-बार तरह-तरह से हमारे सामने प्रकट होता है और हमारी अपनी ही भीतरी कमज़ोरियों की वजह से ओझल हो जाता है। उसी की खोज इस कविता का लक्ष्य है। कवि मुक्तिबोध के लिए यह खोज उनकी 'परम अनिवार आत्म-सम्भवा अभिव्यक्ति' की खोज भी है। इसके लिए कवि कहता है :

यह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है
पूर्ण अवस्था वह
निज सम्भावनाओं, निहित प्रभाओं, प्रतिभाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिमा।

अन-खोजी निज समृद्धि का वह परम उत्कर्ष,
परम अभिव्यक्ति
मैं उसका शिष्य हूँ
वह मेरी गुरु है।
गुरु है!
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर
वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति
उसका तू शिष्य है (यद्यपि पलातक)
वह तेरी गुरु है
गुरु है...

अपने इसी लक्ष्य के भीतर से कवि उस 'रक्तालोक स्नात पुरुष' को, अपनी 'पूर्ण अवस्था' को, अपनी 'अन-खोजी निज समृद्धि के परम उत्कर्ष' को, अपनी 'परम, अनिवार आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति' को खोजते हुए, कविता में स्वयं एक पात्र

की तरह आगे बढ़ता है। और इसी क्रम में यह कवि-चरित्र भारतीय जीवन की वास्तविकताओं का साक्षात्कार करता है, उनके आमने-सामने होता है। इस वास्तविकता के साक्षात्कार के लिए ही वह स्वप्न-फ़ैंटेसी का सहारा लेता है। सत्य और असत्य, भ्रम और यथार्थ के इस अँधेरे-उजाले के बीच से ही वह जीवन के भीतरी यथार्थ का उद्‌घाटन करता चलता है। भ्रम और यथार्थ की बुनावट इस कविता की शैली का अंग है–एक सचेत अंग है। क्योंकि उसके बिना सचाइयों से मुँहामुँही सम्भव नहीं दीखती। वह कविता के शिल्प की भीतरी माँग से पैदा हुआ है। इसीलिए कवि बार-बार कविता में एक मायालोक की सृष्टि करता हुआ चलता है और साथ ही यह भी कहता चलता है कि :

समझ नहीं पाता कि चल रहा स्वप्न या
जागृति शुरू है।
दिया जल रहा है
पीतालोक प्रसार में काल गल रहा है।
निजत्व-भाप है बेचैन
समझ नहीं पाता
कहाँ जाऊँ–दिल्ली
या उज्जैन।

या

आधी रात, इतने अँधेरे में कौन आया मिलने
विमन, प्रतीक्षातुर, कुहरे में घिरा हुआ
द्युतिमय मुख–वह प्रेम-भरा चेहरा
भोला-भाला भाव
पहचानता हूँ, बाहर जो खड़ा है...
अवसर-अनवसर प्रकट जो होता ही रहता...
कोई मेरी बात मुझे ही बताने के लिए
बुलाता है...बुलाता है।

'अँधेरे में' कुल आठ खंडों में लिखी गई कविता है। यह ठीक वैसे ही जैसे किसी उपन्यास के आठ अध्याय या किसी महाकाव्य के आठ सर्ग। अपने आपमें यह कविता आधुनिक जीवन का संक्षिप्ततम महाकाव्य है। आठों खंडों में स्वप्न और जागृति का धूप-छाँही खेल जारी रहता है।

पहले खंड में ही उस 'रक्तालोक स्नात पुरुष' के दर्शन हो जाते हैं। लेकिन तुरन्त नहीं। पहले ज़िन्दगी के अँधेरे कमरों में उसके पैरों की आहट सुनाई देती है। फिर दीवार से खिरते हुए पलस्तर में उसका चेहरा दिखाई देता है। फिर बाहर तालाब के साँवले जल में उसकी आकृति उभरती है। फिर अचानक तिलस्मी खोह के दरवाज़े पर लाल-लाल मशाल की रोशनी में वह पूरी तरह दिखाई देता है। कवि उसका वर्णन यों करता है :

कुहरे में, सामने, रक्तालोक स्नात पुरुष एक
रहस्य साक्षात्।
तेजोप्रभामय उसका ललाट देख
मेरे अंग-अंग में अजीब एक थरथर
गौरवर्ण, दीप्तदृग, सौम्य-मुख
सम्भावित स्नेह-सा प्रिय रूप देखकर
विलक्षण शंका
भव्य आजानुभुज देखते ही साक्षात्
गहन एक सन्देह।

इस क्रमवार साक्षात् के बाद ही कवि को यह आत्मज्ञान होता है। अपने गहन सन्देह के भीतर से ही यह आत्मज्ञान होता है कि 'वह रहस्यमय व्यक्ति, अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है। पूर्ण अवस्था है।' इस तरह कविता का भाव, उसकी मूल अन्तर्वस्तु, यहीं, कविता के प्रथम खंड में ही, अचानक, तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। जीवन और जगत् और स्वयं कवि के अन्तर्विरोध भी, द्वन्द्वात्मकता भी। अपने कर्म, कर्तृत्व और ज्ञान का उज्ज्वल स्रोत, अपनी रचना का अन्तर्जगत् और उद्देश्य अचानक एक पल के भीतर कवि के सामने उद्घाटित हो जाता है।...अगर ऐसा ही है...जीवन-स्थितियाँ, समाज-तंत्र, रचना-प्रक्रिया और लक्ष्य अगर इतने ही सुस्पष्ट हैं तो कविता का यहीं अन्त हो जाना चाहिए। नहीं, ऐसा नहीं है। यह पूर्ण अवस्था, वह आदर्श, वह जीवन-दर्शन घायल है। उस 'रक्तालोक स्नात पुरुष' का स्वर्णमुख मैला है। वक्ष पर बड़े-बड़े घाव हैं यद्यपि उस प्रचंड शक्तिमान के मुख पर स्मिति है। आगे एक जगह कवि उसका वर्णन यों करता है :

'वह जगत् की गलियों में घूमता है प्रतिपल
वह फटेहाल रूप।'

" घावों से भरी, चिथड़ों में लिपटी...अपने ही आदर्श, अपनी ही 'परम अनिवार, आत्म-सम्भवा अभिव्यक्ति, अपने ही इच्छित आदर्शों की यह दुर्दशा कवि के लिए असहनीय है। इसी प्रश्नाहत मुद्रा में कवि यथार्थ की, सामने की, वर्तमान की दुनिया में प्रवेश करता है–अँधेरों, विकलांग, कटी-फटी, अन्धकार-ग्रस्त दुनिया में। वही आलोक-पुरुष, वहाँ भी बार-बार साँकल खटखटाता है। लेकिन कवि कहता है :

'यह भी तो सही है कि
कमज़ोरियों से ही मोह है मुझको
इसलिए टालता हूँ, उस मेरे प्रिय को...
बजने दो साँकल
उठने दो अँधेरे में ध्वनियों के बुलबुले
वह जन वैसे ही
आप चला जाएगा आया था जैसे
खड्डे के अँधेरे में मैं पड़ा रहूँगा
पीड़ाएँ समेटे।'

यह कमज़ोरी, यह दुविधा, यह आलस्य मध्यवर्ग की एक प्रतीकात्मक कमज़ोरी है। इसी के चलते आए हुए, साक्षात् दिखे हुए उस आलोक-पुरुष, उस 'आइडियल' का भी लोप हो जाता है जिसे पाने और उपलब्ध करने की आकुल तत्परता है। क्योंकि 'ऊँचाइयों से डर लगता है।' 'भविष्य के उस दिए हुए 'नक्शे' को उस नई, आदर्श जीवन-व्यवस्था को अपनाना आसान नहीं दिखता। इसी कारण वह 'आलोक पुरुष' ग़ायब हो जाता है, जगत् की गलियों में घूमता है फटेहाल। तब उसकी खोज शुरू होती है।

कविता के तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे खंडों में यथार्थ का साक्षात् दर्शन है। सपने में ही जागा हुआ कवि अपने कमरे से बाहर निकलता है। अपनी रचनात्मक ऊँचाई की तलाश में। उसके आदर्श टॉल्सताय हैं जो आसमान में सितारों के बीच चलते हुए दिखाई देते हैं। अपनी उपलब्धियों के शिखर को कवि टॉल्सताय के रूप में प्रतीकित करता है। किन्तु वह शिखर भी तो सितारों में चलता हुआ दिखाई देता है...पकड़ से अभी बाहर है और मन में सिर्फ़ टॉलस्ताय-नुमा 'हाय' दबी हुई है। फिर अचानक अँधेरे में एक जुलूस के दर्शन होते हैं। मुक्तिबोध ने इस जुलूस का अद्भुत वर्णन किया है। जैसे आज़ादी के बाद से, अपने विकलांग प्रजातंत्र के भीतर से जागती हुई फ़ासिस्ट शक्तियों की तरफ़ यह संकेत है। कवि कहता है :

सब सोए हुए हैं
लेकिन मैं जाग रहा, देख रहा।'

यह कथन कबीर के उस कथन की याद दिलाता है :

सारा जग सुखिया, खावै अरु सोवै
कबीर एक दुखिया, जागै अरु रोवै।
यह मार्च-पास्ट, अँधेरे में अद्‌भुत है।
कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल
कई और सेनापति, सेनाध्यक्ष...
उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण
...उद्योगपति, विद्वान
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमा जी उस्ताद...
बनता है बलबन।'
कवि अन्ततः निर्णयात्मक रूप में कहता है :
'यह सब क्या है?
किसी जनक्रान्ति के दमन-निमित्त यह
मार्शल-लॉ है।'

इसी जुलूस-दर्शन में वह (कवि या वाचक या वह मध्यवर्ग का प्रतिनिधि संवेदनशील व्यक्ति) देखे और पकड़े जाने के भय से भागता है। और भागते हुए वह जीवन के अनेक पक्षों का दर्शन करता है, उसके माध्यम से वह यथार्थ के विभिन्न, सघन पक्षों को कविता में उद्‌घाटित करता है। बरगद तले बसनेवाले पागल के मुख से जो गीत कविता में चित्रित है वह दरअसल आज़ादी के बाद मध्य-वर्ग की भूमिका और सामाजिक बदलाव में इस वर्ग की निष्क्रियता और कुछ हद तक विरोधी रूप को चित्रित करता है। फिर भी इसमें 'आत्म-भर्त्सना' का स्वर प्रमुख है। यह आत्म-भर्त्सना प्रतीक रूप में सम्पूर्ण भारतीय मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी के प्रति आत्म-भर्त्सना के रूप में चित्रित हुई है।

ओ, मेरे आदर्शवादी मन,
ओ, मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया।
जीवन क्या जिया!

उदरम्भरि बन अनात्म बन गए
दुखों के दाग़ों को तमग़ों-सा पहना
अपने ही ख़यालों में दिन-रात रहना
असंग बुद्धि और अकेले में सहना...
बहुत-बहुत ज़्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम।

इसी आत्म-भर्त्सना के बीच भागते हुए, कवि को अपने अनुभव-वेदना, विवेक-निष्कर्ष जैसे 'जनोपयोग से वर्जित रत्नों के दर्शन होते हैं। भागते हुए ही तिलक की मूर्ति से झरते हुए अंगार और नासिका से बहते हुए खून के दर्शन होते हैं और गांधी जी का उपदेश सुनने को मिलता है। इन दोनों महापुरुषों के माध्यम से कवि यह संकेत करता है कि आज़ादी के पूर्व के हमारे आदर्श या तो पूरे नहीं हुए या अब गांधीवादी विचारधारा भारतीय समाज के विकास और एक समता-प्रधान आदर्श व्यवस्था की स्थापना के लिए पूरी नहीं पड़ रही है। गांधी जी का उपदेश इसका प्रमाण है :

'भाग जा, हट जा
हम हैं गुज़र गए ज़माने के चेहरे
आगे तू बढ़ जा!...
जनता के गुणों से ही सम्भव
भावी का उद्भव।'

अन्ततः कवि पकड़ा जाता है। उसका 'क्रॉस-एक्ज़ामिनेशन' होता है। गहन यातना देने के बाद उसे छोड़ दिया जाता है।

कविता के सातवें और आठवें खंड में भूमिगत क्रिया-कलापों का चित्रण है। जिस 'जनक्रान्ति के दमन निमित्त चारों ओर मार्शल लॉ', लगा हुआ है, उसके संघर्ष भूमिगत तौर-तरीकों से ही सम्भव हैं। सामाजिक बदलाव के लिए मुक्तिबोध अपनी अन्तिम कविता में इसी विकल्प को चुनते हैं। इसीलिए वह कहते हैं :

अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने ही होंगे, मठ और गढ़ सब।

इसी सन्दर्भ में वह भारतीय बौद्धिक वर्ग की तीखी आलोचना करता है। बौद्धिक जगत् 'निर्वाक्' है। 'उनके ख़याल से यह सब गप है। मात्र किंवदन्ती।' कारण यह है कि यह वर्ग अपने निहित स्वार्थों के कारण 'रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध है।' इसीलिए मुक्तिबोध कहते हैं :

बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराए के विचारों का उद्‌भास।'

चारों ओर गुपचुप भूमिगत संगठन की पदचापें हैं : कवि कहता है :

आश्चर्य...अद्‌भुत
लोगों की मुट्ठियाँ बँधी हैं
उँगली की सन्धि से फूट रही किरणें
लाल-लाल।...
मेरे युवकों में व्यक्तित्वान्तर
विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह से करते हैं संगर
अग्नि के कमल-केन्द्र में बैठे
द्रुतवेग बहती हैं शक्तियाँ, निश्चयी...

'मस्तक-कुंड' में जो 'सत्-चित्-वेदना' जल उठी थी उसका परिणाम यों होता है :

'हम कहाँ नहीं हैं
हम सभी जगह हैं।'...
कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।'

इसी पूर्ण निर्णय तक पहुँचते-पहुँचते स्वप्न-भंग होता है। मस्तिष्क और हृदय के छेदों में 'ज्योति का प्रदीप्त रस' भर गया है। इसी सामाजिक परिवर्तन और नए समाज की स्थापना के लिए कवि को चाहिए 'अभिव्यक्ति' का सजग हथियार। वही गुरु है। लेकिन शिष्य अब पलातक नहीं है। उठकर बाहर आता है और 'जन-यूथ' में साथ-साथ जाते हुए उस 'रक्तालोक स्नात' पुरुष का दर्शन करता है। उसकी दिशा

समझता है और अपनी गुरु की खोज में पठार...पहाड़...समन्दरों की ओर चल देता है। कवि की यह मुक्ति ही कविता का लक्ष्य है। कविता में युवकों व्यक्तित्वान्तर नहीं होता, कवि का और प्रकारान्तर से सारे समाज का होता है। कक्का, दद्दा और मुन्ने का भी होता है। सभी एक साथ 'अग्नि-कमल के केन्द्र' में जा बैठने की तैयारी करते हैं। तभी यह आवाज़ बुलन्द होती है :

हम कहाँ नहीं हैं
हम सभी जगह।

और तभी कवि भी इस संघर्ष में अपने योगदान को यों कविता में रखता है :

प्रत्येक स्थान पर मैं लगा हूँ काम में
प्रत्येक चौराहे, दुराहे व राहों के मोड़ पर
सड़क पर खड़ा हूँ
मनाता हूँ, मानता हूँ, मनवाता अड़ा हूँ।

कहा जा सकता है कि अगर आज मुक्तिबोध जीवित होते तो कविता में तो उन्हें मनवाने की ज़रूरत नहीं पड़ती, हाँ, सामाजिक प्रगति और विकास के लिए अभी उन्हें यह काम ज़रूर करना पड़ता।

●

ब्रह्मराक्षस की तीसरी पीढ़ी

कुछ आलोचक समझते हैं कि मुक्तिबोध का कथा-लेखन आनुषंगिक है। मुझे इस सन्दर्भ में ग़ालिब का एक शेर याद आ रहा है :

बक़द्र-ए-शौक नहीं ज़र्फ तंगना-ए-ग़ज़ल
कुछ और चाहिए वुसअत मेरे बयाँ के लिए।

कविता लिखने में मेरी उत्कट संसक्ति तो है लेकिन उसकी गली तंग है यानी उसमें अन्तर्वस्तु का प्रसार पूरी तरह नहीं हो पाता। मुझे पूरा सन्तोष नहीं मिलता।...'वुसअत' माने फैलाव, विस्तार।...मुझे खुल-फैल कर अपनी बात कहने के लिए, अपने 'बयाँ' के लिए थोड़ी और जगह चाहिए। तो उस विस्तार के लिए ग़ालिब पत्र-लेखन की तरफ़ गए। उन्होंने 'दस्तम्बू' नाम से 1857 के ख़ूनी दिनों की डायरी लिखी। ग़ालिब के पत्र कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। तो हर कवि को विस्तार चाहिए होता है। कहानी, उपन्यास के अलावा प्रेमचन्द को भी चाहिए था। निराला, पन्त, महादेवी और अज्ञेय को भी। नागार्जुन ने भी इतने उपन्यास लिखे। त्रिलोचन का अवधी में लिखना भी एक वुसअत की दरकार ही है।

मुक्तिबोध किन बातों को रेखांकित करते हैं? अपने एक निबन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है, 'मैंने सोचा है कि मैं अपनी हर कविता पर एक कहानी लिखूँ। क्या यह असम्भव है?' फिर वे एक जगह कहते हैं, 'कविता के भीतर काव्य-तत्त्व भी भाव का इतिहास है।' एक तीसरा वाक्य और है जिसे मैं उद्धृत करना चाहूँगा, 'मेरे सत्यों ने मेरी मुश्किल कर दी, दिमाग में डुगडुगी बजती रहती है–निरन्तर, एकरस, एकतान प्रलाप चलता रहता है।' 'व्यक्तिगत ईमानदारी और कला' नामक छोटा-सा जो निबन्ध है, उसमें है यह वाक्य–एकरस, एकतान प्रलाप, निरन्तर एक डुगडुगी का दिमाग में बजना–कविताओं और डायरियों और आलोचनाओं में ही नहीं, कहानियों में भी है। बार-बार अपनी ही बात को काटना-पीटना, उनमें संशोधन, परिवर्द्धन, उसको चमकदार बनाना, अपने ही सत्यों के ख़िलाफ़ खुद की जिरह,

'अच्छे से और अच्छे के बीच का संगर', साहित्य में, कला-रचना के क्षेत्र में यही करते हैं मुक्तिबोध। इसीलिए उन्हें 'कुछ और चाहिए वुसअत'...जगह बार-बार कम पड़ती है। जो कहते हैं, उतने में बात अँटती नहीं।

उनकी कहानियाँ जिन पर चर्चा होनी चाहिए, जिनको फिर से देखा-परखा-पढ़ा-गुना जाना चाहिए, मेरी नज़र में वो हैं–'ब्रह्मराक्षस का शिष्य', 'समझौता, 'पक्षी और दीमक', 'क्लॉड इथरली' और 'काठ का सपना।' मुक्तिबोध सम्पूर्ण सृजन-क्रम को ही ज्ञानात्मक संवेदन से उत्पन्न एक फ़ैंटेसी मानते हैं। आत्मपरकता में निर्वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता में आत्मपरकता–उनको समझने का मूलमंत्र यही है। 'फ़ैंटेसी गतिहीन स्थिर चित्र नहीं है। वह डॉयनेमिक है। उद्देश्य की दिशा के कारण ही वह गतिमान है...।' इसी गतिमानता को मुक्तिबोध की कहानियाँ-कविताएँ व्यक्त करती हैं। वस्तु की इस कलात्मक गतिमानता को मुक्तिबोध अपनी कहानियों में कैसे व्यक्त करते हैं? जो उनकी अच्छी और अनहोनी कथा-रचनाएँ हैं, उनमें कथा के भीतर एक और कथा रहती है। कहानी के भीतर कहानी है और यह शुद्ध भारतीय तरीका है। कहानी के भीतर यह जो दूसरी कहानी है वह बिलकुल बोध-कथा वाली शैली में है। यानी मुख्य कथावस्तु को सिद्ध करने के लिए उसके भीतर एक दूसरी बोध-कथा डाली गई है। यह बोध-कथा अधिकांशतः लोक-मिथकों से ली गई है। कभी-कभी मुक्तिबोध के अपने विचार-संसार से भी। 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' तो पूरी एक गतिमान और सांकेतिक फ़ैंटेसी है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में भी वही है और एक जगह उनकी डायरी में भी। इस तिहरी फ़ैंटेसी (यानी कहानी+कविता+डायरी) पर हम थोड़ा बाद में विचार करेंगे। पहले हम उन कहानियों की अन्तर्वस्तु और शिल्प पर बात करते हैं जिनमें कथा के भीतर एक दूसरी बोध-कथा कहानी को सिद्ध करने के लिए डाली गई है। जैसे 'समझौता' और 'पक्षी और दीमक'। एक आदमी जो अपनी बेकारी से तंग आकर सर्कस में जोकर बनने की ठान लेता है। यह कहानी के भीतर वाली बोध-कथा है। हाँ, तो उसे जोकर बनने के पहले कितनी तरह की भयावहताओं से गुज़रना पड़ता है। अन्त में सर्कस के मैनेजर के आदेश से उसे भालू की खाल ओढ़ाकर एक शेर के पिंजरे में डाल दिया जाता है, जहाँ शेर उस पर चढ़ बैठता है। अब जोकर बननेवाला आदमी चीत्कार की मुद्रा में आता है तो शेर बोलता है, 'तुम क्यों मुझ से डर रहे हो? तुमने रीछ की खाल ओढ़ी है, मैंने शेर की खाल ओढ़ी हुई है। मैं तुमको मारूँगा नहीं। हम लोगों को यह सोचना चाहिए कि हमको शेर

और भालू किसने बनाया है, और वह मैनेजर कहाँ गया? वह कहाँ से सारा प्रबन्ध-तंत्र चला रहा है और दिखाई नहीं देता। आज तक वह दिखाई नहीं दिया।' –यह है इस बोध-कथा से सिद्ध किया गया, मुख्य कथा की अन्तर्वस्तु का सार-तत्त्व। मुख्य कथा तो यह है कि एक दफ़्तर में एक सीनियर-जूनियर दो चरित्र हैं। सीनियर अपने जूनियर को एक चेतावनी नोटिस पकड़ाना चाहता है। जूनियर को सीनियर इसी पर कहानी के भीतर यह उपरोक्त बोध-कथा सुनाता है। नोटिस लेने से इनकार करने पर सीनियर कहता है कि 'यह सर्कस नहीं सर्विस है भाई!' तो 'सर्विस' बनाम 'सर्कस' की 'डॉयकांटमी' से 'समझौते' के मर्म को मुक्तिबोध ने उद्घाटित किया है। यह है उनकी कहानियों की अन्तर्वस्तु की फ़ैंटेसी के उद्घाटन और अन्तर्गुम्फन का शिल्प। यहाँ भी मुक्तिबोध अकेले ही हैं। उनके समकालीन कथाकारों ने अन्तर्गुम्फन के इस सहज किन्तु जटिल शिल्प को कभी नहीं अपनाया। चाहे रेणु हों या मोहन राकेश, अमरकान्त या निर्मल वर्मा–सब एक बँधी-बँधाई, सधी-सधाई लीक पर संवादों और वृत्तान्तों के मेल से कहानी लिखते हैं।

'नई कहानी' के बारे में मेरी एक 'थीसिस' है। 'नई कहानी' के सारे लोगों का जो मानस है वह आज़ादी के पहले का बना हुआ है। आज़ादी मिलने के वक्त वे सभी (अधिकांशतः) किशोर-वय से थोड़ा ऊपर-नीचे थे। ये सारे लोग आज़ादी को 'मूल्य' मानकर चलते हैं। अतः उनकी कहानियों में भी एक आदर्शवादी मूल्यबोध है। प्रेम कहानियों में भी एक आदर्शवादी पवित्र रूमानीपन। रेणु में भी, मार्कंडेय, राजेन्द्र यादव, मन्नू जी, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा–सभी में। और यह समझ कोई ग़लत भी नहीं है। लेकिन मुक्तिबोध को देखिएं, वे सन् 1957 के आसपास ही डोमा उस्तादों को संसद के गलियारों में नाचते हुए देखते हैं ('अँधेरे में')। यह मुक्तिबोध की आगे बढ़ी हुई भविष्यदर्शी दृष्टि है, समझ है, आज़ादी से मोहभंग है। इस रूप में वे हमारी पीढ़ी के ज़्यादा निकट हैं, नए कहानीकारों के कम। उनका आदर्शवाद (कहानियों में) एक स्ट्रीट फ़ाइटर का आदर्शवाद है, एक डी-क्लास कार्यकर्ता की विकसित होती हुई समझ का आदर्शवाद है।

नए कहानीकारों में अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी' ही एक कहानी है, जो आज पचास साल बाद और ज़्यादा 'वैलिड और ज़्यादा प्रामाणिक हो गई है। सरकारी नौकरी में जाने के लिए तब जो 'एक असफल युवक' था, आज वैसे लाखों असफल नवयुवक हैं। कहानी अपने यथार्थ के विस्तार में जैसे पूरे भारतीय क्षितिज पर फैल गई है। लेकिन हम यहाँ मुक्तिबोध की कहानियों की चर्चा कर रहे हैं। उनकी भी

दो कहानियाँ ऐसी हैं जो लिखे जाने के लगभग पचास वर्ष बाद और ज़्यादा 'वैलिड' और ज़्यादा प्रामाणिक हो गई हैं। 'पक्षी और दीमक' और 'क्लॉड इथरली'। बल्कि 'क्लॉड इथरली' तो आज की पूरी भगवाधारी राजनीति और अमरीकी साम्राज्यवाद की पोषक राजनीति का आईना बनकर और अधिक गहराई से अपनी अर्थवत्ता को प्रमाणित करती-सी लगती है। यही स्थिति 'पक्षी और दीमक' कहानी के बारे में है। 1959 के आसपास 'भगवा खद्दरधारियों' की शिनाख़्त हिन्दी में या किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य में किसने की थी? मुक्तिबोध ही हैं जो 'पक्षी और दीमक' कहानी में इस आदमी को पहली बार देखते हैं। मुक्तिबोध ही हैं जो साम्प्रदायिक फ़ासीवादी आज के भारतीय सत्ताधारियों और अमेरिकी साम्राज्यवाद की साँठ-गाँठ को 'क्लॉड इथरली' में देख लेते हैं। कभी-कभी कलाकृतियाँ अपने से आगे जाकर अपने को ज़्यादा अर्थवान, ज़्यादा प्रामाणिक पाती हैं। इतिहास की गति के कारण ऐसा होता है। हममें से कौन जानता था कि सन् 2004 में भगवा रंग इतना प्रमुख रंग हो जाएगा? हममें से कौन जानता था कि एक दिन ये भगवा खद्दरधारी आणविक शक्ति के विकास में साम्राज्यवादी अमेरिका से साँठ-गाँठ करेंगे? यही तो इन दोनों कहानियों का सारतत्त्व है। और डॉ. नामवर सिंह कहते हैं कि मुक्तिबोध का कहानी-लेखन उनके सम्पूर्ण लेखन का आनुषंगिक है। मुक्तिबोध की कौन-सी कविताएँ उपर्युक्त स्थितियों की अर्थवत्ता उपर्युक्त सन्दर्भों में पेश करती हैं–मैं पूछना चाहूँगा? 'पक्षी और दीमक' का पुरुष पात्र (जो दरअसल मुक्तिबोध का ही 'आत्म' है) एक जगह कहता है, 'हाय रे, इन भगवा खद्दरधारियों से कब छुट्टी मिलेगी?' यह भगवा खद्दरधारी एक चिलचिलाती दुपहरिया में शेवरलेट में मुआइना के लिए आता है। मुक्तिबोध अपनी एक कविता में कहते हैं :

कनफटा हूँ, हेठा हूँ
शेवरलेट् डॉज के नीचे लेटा हूँ।

विजय मोहन जी ने कहा है कि 'मुक्तिबोध की कहानियों में रात है, अँधेरा है।' लेकिन मुक्तिबोध की इन बेहतरीन कहानियों में तो चिलचिलाती दुपहरिया है, बंजर-वीरान में बिजली के खम्भे से टिकाई एक सीढ़ी है, जेल की लगातार चलती जाती दीवार है, उजाड़ में एक पान की दुकान है, एक ठूँठ पेड़ है जिसमें हरे-हरे नए कंछे निकल रहे हैं। कँटीली झाड़ियाँ और ऊबड़-खाबड़ मैदान हैं। क्या यह दृश्यावली सल्वादोर डाली की किसी कलाकृति की तरह नहीं लगती? यह जो 'पक्षी और दीमक' और 'क्लॉड इथरली' का साँय-साँय करता हुआ जलता

हुआ वातावरण है, ये जो सीढ़ियों पर चढ़कर झाँकता एक आदमी है और रोशनदान से भीतर दिखती और बाहर की ओर देखती दो नीली आँखें हैं और कहानी के मैं के साथ चलता हुआ जो ख़ुफ़िया आदमी है–यह सब कौन हैं, यह कैसा दुर्धर्ष और डरावना चित्र है–'क्लॉड इथरली' का, जो पचास साल बाद इतना सचित्र-प्रामाणिक हो उठा है? यह आनुषंगिक लेखन है या कवि मुक्तिबोध की 'वुसअत' की छटपटाहट से चित्रित एक भविष्य-बिम्ब। किसी आलोचक ने कहा है कि मुक्तिबोध ने कोई प्रेम कहानी नहीं लिखी। शायद उनके दिमाग में 'परिन्दे' की छाया मँडरा रही होगी। 'पक्षी और दीमक' से बड़ी प्रेम-कथा और कहाँ मिलेगी? लेकिन उस कहानी के कई आयाम हैं। उसमें 'कक्ष के भीतर कक्ष, प्रकोष्ठ के भीतर एक और प्रकोष्ठ' (औरांग-ओटांग) कहानी के भीतर 'पक्षी और दीमक' की एक और बोध-कथा है। बोध-कथा के रूप में दीमकों से लदी हुई एक बैलगाड़ी है। गाड़ीवान लगातार चिल्लाता है 'दीमक ले लो पंख दे-दो। दीमक ले लो पंख दे दो'। और एक पक्षी इस सहज उपलब्ध खाद्य-पदार्थ पर टूट जाता है। वह एक पंख दे देता है और खाने भर को दीमकें ले लेता है। उसे मिहनत से छुटकारा मिल जाता है। फिर इसी तरह वह एक-एक पंख देता जाता है और दीमक लेता जाता है। धीरे-धीरे वह पाता है कि अब वह उड़ने में असमर्थ है। तब वह पेड़ से ज़मीन पर आ गिरता है। अब वह पूर्णतया असुरक्षित-असहाय है। वह सोचता है कि अबकी गाड़ीवान आए तो वह अपने पंख वापस ले लेगा और दीमकें चुन-चुन के लौटा देगा। जब गाड़ीवान दिखाई देता है तो पक्षी अपना प्रस्ताव रखता है। गाड़ीवान हँसते हुए कहता है, 'मूर्ख, मैं दीमकों के बदले पंख लेता हूँ, पंख लौटाता नहीं।' असहाय पक्षी चुपचाप ज़मीन पर पड़ा रहता है। और एक दिन झाड़ियों में से एक बनबिलाव निकलकर उसे झपट लेता है।...यह विश्व बैंक और आई.एम.एफ. की दीमकें तो नहीं हैं? यह वही 'डेट-ट्रैप' है जिसमें धीरे-धीरे हम निहत्थे, पंख-विहीन होते जा रहे हैं। यह वही ग्लोबलाइज़ेशन का गाड़ीवान है। इस कहानी में चिले के आयेन्दे के ख़ून की महक है। झाड़ियों से निकलकर अर्जेंटिना, अफ्रीका और पूरे एशिया पर झपटता हुआ अमेरिकी बनबिलाव है। कहानी को कृपया, ज़रा ध्यान से पढ़ें, वह आनुषंगिक लेखन नहीं, अपने समय से आगे की आज की कथा-कृति है।

'क्लॉड इथरली' में इन साम्प्रदायिक फासीवादियों और अमरीकी गठजोड़ को मुक्तिबोध ने और स्पष्ट किया है। पान की दुकान से लेखक के साथ चलते हुए,

'क्लॉड इथरली' का ज़िक्र आने पर सी.आई.डी. का आदमी कहता है, 'भारत के हर बड़े नगर में एक-एक अमरीका है। तुमने चमकदार, गोरी-सुनहली औरतें नहीं देखीं, उनके कीमती कपड़े नहीं देखे? शानदार मोटरों में घूमनेवाले अतिशिक्षित लोग (शोषक-वर्ग) नहीं देखे? नफ़ीस किस्म की वेश्यावृत्ति नहीं देखी? सेमिनार नहीं देखे?...अगर हमारा वश चले, और आज हम सचमुच उतने ही धनी हों, और हमारे पास उतने ही एटम बम, हाइड्रोजन बम और रॉकेट हों तो क्या पूछना!...मैकमिलन ने क्या कहा था–'यह देश हमारे सैनिक गुट में तो नहीं है, किन्तु संस्कृति और आत्मा में हमारे साथ है।'...हमारे यहाँ भी हिरोशिमा पर बम गिरानेवाला विमान-चालक क्यों नहीं हो सकता? और हमारे यहाँ भी साम्राज्यवादी बुद्धिवादी लोग क्यों नहीं हो सकते?' आज ये हिन्दुत्ववादी लोग और क्या हैं? जो उस सी.आई.डी. ने लेखक से कहा, उसमें थोड़ी सी तरमीम की जा सकती है, 'हमारे यहाँ भी साम्राज्यवादी बुद्धिहीन लोग क्यों नहीं हो सकते?' यही लोग हमारे देश की संस्कृति और आत्मा को अमरीकी सत्ता की संस्कृति और आत्मा के निकट ले जाने की कोशिशों में लगे हैं।

हम थोड़ी देर के लिए फिर 'पक्षी और दीमक' की ओर लौटते हैं। अगर आज की अन्तर्राष्ट्रीय दुरभिसन्धि से जोड़ना थोड़ा अटपटा लग रहा हो तो यह भी देखा जा सकता है कि आज पचास साल बाद और किन कारणों से यह कहानी इतनी अर्थवान बन गई है। कहानी में एक जगह आता है कि बहुत सारे औज़ार ख़रीदने के लिए सरकारी अनुदान मिला है। उन्हीं का मुआइना करने के लिए वह भगवा खद्दरधारी शायद आ रहा है। लेकिन वे औज़ार तो ख़रीदे ही नहीं गए। सिर्फ़ काग़ज़ों पर ख़रीद-फ़रोख़्त हुई है। जब मुआइने के लिए कोई आता है तो दूसरी जगह से माँगकर वे दिखा दिए जाते हैं, और फिर मुआइना ख़त्म होने के बाद लम्बे, अँधेरे गलियारे के अन्त में गरम होती हुई मुट्ठियाँ...। ये 'गरम होती हुई मुट्ठियाँ' आज कितनी व्यापक हो गई हैं। हम सब आज इसके साक्षी हैं, जिसे मुक्तिबोध ने सन् '59-'60 के आसपास देख लिया था।

हम लोगों ने प्रेम-कहानी की बात भी उठाई थी। मेरा ख़याल है कि 'पक्षी और दीमक' से अच्छी प्रेम-कथा, और अपने ढंग की अकेली प्रेम-कथा (क्योंकि यह मुक्तिबोध द्वारा लिखी प्रेम-कथा है) जिसमें सामाजिक एकान्तीकरण की जगह प्रेम के प्रगाढ़ होने और निर्णय लेने के पश्चात अपने नए जनोन्मुखी कार्य-भारों की ओर लौटने का एक अनोखा प्रण भी है। कहानी का 'मैं' अन्त में क्या सोचता

है? 'लेकिन श्यामला के साथ अगर मुझे ज़िन्दगी बसर करनी है तो न जाने कितने भगवे खद्दर-कुर्ते वालों से मुझे लड़ना पड़ेगा। जी कड़ा करके लड़ाइयाँ मोल लेनी पड़ेंगी और अपनी आमदनी के ज़रिए खत्म करने होंगे। श्यामला का क्या है। वह तो एक गांधीवादी कार्यकर्ता की लड़की है, आदिवासियों की एक संस्था में काम करती है। उसका आदर्शवाद भी भोले-भाले आदिवासियों की उस कुल्हाड़ी जैसा है, जो जंगल में अपने बेईमान और बेवफ़ा साथी का सिर धड़ से अलग कर देती है।...मुझे इसमें आत्मा का गौरव और मनुष्य की महिमा दिखाई देती है, पैने तर्क की अपनी अन्तिम प्रभावोत्पादक परिणति का उल्लास दिखाई पड़ता है–और ये सब बातें मेरे हृदय को स्पर्श कर जाती हैं। तो अब मैं इसके लिए क्या करूँ? जहाँ मेरा हृदय है वहीं मेरा भाग्य है।'

यह है निर्णय। प्रेम-पथ पर चलने के लिए भगवा खद्दरधारियों से युद्ध। अपनी आमदनी के ज़रिए का ख़त्म होना, अपने तर्कों की परिणति का उल्लास। बेईमानी और बेवफ़ाई से अलग। कितने लोग आज हैं जो प्रेम को पाने के लिए ऐसे प्रण करते हैं? अपनी आमदनी के ज़रिए ख़त्म करते हैं? 'ठाट से रहने के चक्कर में बँधे हुए बुराई के चक्कर तोड़ने के लिए' अपनी प्राणशक्ति होम कर देते हैं? बल्कि आज तो 'ठाट से रहने के चक्कर' में नौजवान लोग एन.जी.ओ. बनाते हैं, बिक जाते हैं, दलाली करते हैं और अन्ततः एक आत्महीन सुखी (?) ज़िन्दगी जीते हुए बेहयाई और दर्प से जनता के बीच घूमते हैं। यह कहानी उनकी नहीं है। यह एक मुक्तिबोधियन प्रेम-कथा है–बेजोड़ और अभूतपूर्व। किसी ने कहा था कि कवि-चरित्र का निर्माण होना चाहिए। तो ये है एक कवि-चरित्र का आदर्श निर्माण। फिर 'पक्षी और दीमक' का प्रतीक दोनों ओर लागू होता है, इसे भी समझना चाहिए। दरअसल बाहर के यथार्थ और भीतर के दबे हुए जगमग रोमांस को एक साथ मिलाने की कोशिश है। प्रेम-निवेदन में पंख देने पड़ेंगे और रोज़ी-रोटी के समझौते में प्रशासन को भी और वैश्विक स्तर पर 'डेट-ट्रैप' में फँसकर भी। यह कहानी के बारे में अतिकथन नहीं है, आज की विश्व-स्तरीय दृश्यावली के सन्दर्भ में उसकी सार्थकता पर एक विमर्श है।

एक छोटी-सी कहानी और है, जिसका ज़िक्र किसी ने नहीं किया–'काठ का सपना'। बहुत अच्छी और कुछ-कुछ सुर्रियलिस्ट किस्म की कहानी है। इस कहानी पर लगातार एक मौन की भयावह छाया है। बेबसी, बदहाली, यहाँ तक कि सेक्स के आनन्द को भी एक अनन्य चुप्पी से व्यक्त किया गया है। खेल

रही बच्ची का खेल भी सन्नाटे का सृजन करता है। कटे हुए पेड़ की जड़ में से कुल्हाड़ी से चैले निकालने का वृत्तान्त भी स्तब्धताजनक है। बच्ची का सो जाना, दो गुँथी हुई निरावृत देहें–आत्माएँ, प्रेम और दुख और बेबसी-ग़रीबी-लाचारी का ऐसा अद्भुत मौन मुक्तिबोध ने रचा है, जैसे वो काठ-धारा में निस्तब्ध बहे जा रहे हों। जैसे जीवन को बचाने और रचने का प्रयत्न भी सूखे काठ का सपना हो। मुक्तिबोध अपनी कविताओं में अक्सर बहुत बोलते हैं, अपनी कहानियों में मौन-संकेतों को अपना अस्त्र बनाते हैं। यह अजब उलटा खेल है। शायद इसी को ध्यान में रखकर कहा गया होगा–'गद्यं कविनाम् निकषम् वदन्ति।' 'काठ का सपना' में एक संवाद है : 'यहाँ क्या कर रहे हो?' स्त्री अपने पति से पूछती है। जैसे यह पूछना भी सूनेपन की आवाज़ हो। मुक्तिबोध लिखते हैं, 'उसकी (स्त्री की) आवाज़ गूँजती है, जैसे लोहे की साँकल बजती है, जैसे ईमान बजता है।' मुक्तिबोध की भाषा भी, जैसे लोहे की साँकली बजती, जैसे ईमान बजता है–उसी तरह खनकदार भाषा है।

अन्त में 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी पर बात करेंगे, जिसका संकेत मैंने शुरू में ही किया था। मुक्तिबोध के पूरे साहित्य में तीन बार ब्रह्मराक्षस का ज़िक्र आता है। एक तो यह कहानी ही है, दूसरी कविता है 'ब्रह्मराक्षस'। तीसरे उनकी 'कुछ और डायरियों-4 (1945-54) में 'ब्रह्मराक्षस' का ज़िक्र उन्होंने खुद अपने लिए किया है। उन दिनों (सम्भवतः) वे सचिवालय में काम करते थे और किसी मंत्री-वंत्री के लिए भाषण लिखा करते थे। तो जहाँ वे बैठते थे, वहाँ एक लड़की भी बैठती थी। मुक्तिबोध डायरी के उस हिस्से में अपनी पीठ पर फटे हुए, और बार-बार वहीं फटने वाले अपने कुर्ते का ज़िक्र करते हैं। कुछ खीझ से या शायद अपने ही ऊपर कुछ व्यंग्य और उपहास-भाव से। लड़की सम्भवतः उनकी टूटी हुई, ऊबड़-खाबड़ शक्ल-सूरत और उनके फटे हुए कुर्ते को लक्ष्य कर उन पर हँसती है। इस पर मुक्तिबोध अपनी डायरी में लिखते हैं, 'वह नहीं जानती कि मैं कौन हूँ?–अनादि काल से चला आया एक ब्रह्मराक्षस, जिसने हमेशा सही करने की कोशिश की और ग़लती करता चला गया।' यह आत्म-कथन 'ब्रह्मराक्षस' कविता का सारतत्त्व है। जैसे कविता में वे अपना ही आत्म-चित्र, अपना ही प्रक्षालन, अपने ही युद्ध और आत्म-मरण का चित्रण कर रहे हों।

ब्रह्मराक्षस के ये तीन ज़िक्र (या चित्रण या संरचनाएँ) उनके पूरे साहित्य में मिलते हैं, उनमें डायरी वाला ज़िक्र सबसे पहले का है। नेमि जी ने उसका समय

1945-54 के बीच कहीं दिया है। क्योंकि उस पर कोई तारीख़ नहीं होगी। कहानी जनवरी, 1957 में 'नया खून' में छपी और कविता 'कवि' (सम्पादक–विष्णुचन्द्र शर्मा) में अप्रैल 1957 में डॉ. नामवर सिंह के एक नोट के साथ। कुल मिलाकर इसका अर्थ यह हुआ कि इस लोक-मिथक पर मुक्तिबोध लगातार चिन्तन-मन्थन करते रहे। उन्होंने जो यह लिखा कि 'मैंने सोचा है कि मैं हर कविता पर एक कहानी लिखूँ। क्या यह असम्भव है?' तो यहाँ उन्होंने इसे सम्भव कर दिखाया है। लेकिन आश्चर्यजनक यह है कि कहानी और कविता की 'थीम' बिलकुल अलग-अलग है और इनकी तुलना करें तो ब्रह्मराक्षस के लोक-मिथक का एक विचित्र ऐतिहासिक-सामाजिक विकास-क्रम लक्षित होता है। हम तारीखों के आधार पर यह मानकर चल रहे हैं कि कहानी ('ब्रह्मराक्षस का शिष्य') पहले लिखी गई और कविता बाद में। (हालाँकि दो-चार महीनों का आगा-पीछा मुक्तिबोध के लिए कोई मानी नहीं रखता। वे वर्षों एक अन्तर्वस्तु पर काम करते रहने के आदी थे।) इन दोनों संरचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से कौन-से आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं :

1. (अ) कहानी में ब्रह्मराक्षस एक भव्य इमारत की आठवीं मंज़िल पर रहता है।
   (ब) कविता में वह बावड़ी की अतल गहराइयों में भीतर है।
2. (अ) कहानी में भव्यता, परम्परा, कला, कहें तो सामन्ती कला और रख-रखाव के सारे उपकरण हैं। प्रशान्ति है, ज्ञान है, प्रशिक्षण है।
   (ब) कविता में पतन (नीचे) है, पाप है, मैल है, चिथड़ापन है, गहन सन्देह है।
3. (अ) कहानी में भव्यता के डरावने बिम्ब हैं। वाद्य-यंत्रों का अपने-आप बज उठना, मंत्रोच्चार। घी की लुटिया लाने के लिए गुरु के हाथ का अचानक अति विशाल हो जाना।
   (ब) कविता में अधःपतन के डरावने बिम्ब–औदुम्बर, घग्घू, जंगली लतरें, काई में लिथड़ा जल, अन्धा और निकृष्ट एकान्त।
4. (अ) कहानी में ज्ञानदान के बाद ब्रह्मराक्षस की मुक्ति है।
   (ब) कविता में स्वयं ब्रह्मराक्षस की मृत्यु।

जो लोक-मिथक है उसमें ब्रह्मराक्षस की मृत्यु नहीं, प्रेत-देवत्व से मुक्ति ही मानी जाती है। मुक्तिबोध इसमें नवोन्मेष करते हैं। पहला ब्रह्मराक्षस पारस्परिक है,

अतः वह मुक्ति को प्राप्त होता है। दूसरा 'ब्रह्मराक्षस' मुक्तिबोध की संकल्पना का नवोन्मेष है। वह मृत्यु को प्राप्त होता है। 'मुक्ति' और 'मृत्यु' में फ़र्क़ है। 'मुक्ति' में सन्देह का स्थान नहीं। वह निर्वाण है, बुझ जाना है, अचानक ग़ायब हो जाना है। मृत्यु में एक आधुनिक ट्रेजिक आख्यान है, द्वन्द्व है। गहन सन्देह है, उदात्त की स्मृति भर है। लेकिन बावड़ी के भीतर की सीढ़ियों पर चढ़ते-उतरते अनेक घाव भी लगते हैं. लगातार एक युद्ध है। और यह युद्ध अच्छे व बुरे के बीच में ही नहीं है, यह 'अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर' है।

जब सोवियत क्रान्ति हुई तो वह अच्छे और बुरे के बीच का युद्ध था। एक समतामूलक समाज का सपना था। क्रान्ति के बाद भी एक समतामूलक समाज के भीतर अपने अन्तर्विरोध रहते हैं या पैदा होते चलते हैं। यहीं से 'अच्छे व उससे और अच्छे के बीच का संगर' शुरू होता है। क्या सोवियत समाज ने यह 'संगर' लगातार लड़ा? सामाजिक क्रान्ति के बाद के समाज में और सचेत होकर रहो। तुम्हें और अच्छे के लिए लड़ाई लड़ती रहनी पड़ेगी। तुम चाहे जितना धोओ, 'फिर भी मैल, फिर भी मैल।' यह सदियों की जमी हुई मैल है जो 'मानवीय व्यथाओं' का कारण है। मेरे दिमाग़ में एक कल्पना जन्म लेती है–क्या ब्रह्मराक्षस का वह शिष्य पूर्ण शिक्षित होने के बाद अपने माता-पिता के यहाँ घर लौट गया? या वह यह सर्व-सामाजिक संगर लड़ने का प्रण करते हुए समाज की वर्ग-विभक्त मैली, काई लगी बावड़ी में उतर गया? उसके गुरु की तो मुक्ति हुई लेकिन वह?

पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजेडी है नीच।

फिर एक बात और है, जो मुझे लगती है। यह जो 'अच्छे व उससे और अच्छे के बीच का संगर' है, यह मुक्तिबोध की अपनी रचना-प्रक्रिया पर भी लागू होता है। लेकिन कविता का, कला का, समाज का, इतिहास का यह युद्ध क्या सचमुच सम्भव है? युद्ध तो सम्भव है लेकिन क्या उसकी सफलता भी सम्भव है? इस पर कविता में मुक्तिबोध की एक टिप्पणी है, और वह सर्वोत्तम टिप्पणी है :

'बुरे-अच्छे बीच के संघर्ष से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता
अति भव्य असफलता

...अतिरेकवादी पूर्णता की ये व्यथाएँ
बहुत प्यारी हैं
...मानवी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं।'

प्रयत्न, संघर्ष, गहन किंचित् सफलता; लेकिन भव्य असफलता और मृत्यु यही है आधुनिक मानवीय अन्तर्कथाओं का मर्म। और यही है मुक्तिबोध के सारे साहित्य का सारतत्त्व। यही वह द्वन्द्व है, जो महान कला की सिद्धि में सारभूत होकर प्रकट होता है–जैसे खिचड़ी (सामान्य) में घी (उदात्त तत्त्व)। इधर कुछ लोग हैं जो 'ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य' होना चाहते हैं। देखते हैं कि वे अपने गुरु की 'भव्य असफलताओं' को 'संगत निष्कर्षों तक पहुँचा' पाते हैं या नहीं? वैसे यह प्रयत्न ही अतिरेकवादी है। दुनिया बदल चुकी है और क्लासिकी पूर्णता हो या सामाजिक अन्तर्शोधन का सवाल–यह आधुनिक दुनिया में फ़िलहाल सम्भव नहीं दिखता। वैसे मुक्तिबोध भी कहते हैं :

अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना
कब रहा आसान?

देखें, ब्रह्मराक्षस की यह तीसरी पीढ़ी क्या कमाल करती है।

●

साँवली हवाओं में काल टहलता है

'साँवला' शब्द मुक्तिबोध को बहुत प्रिय है। इस शब्द का प्रयोग वे कई-कई अर्थों में करते हैं। इससे वे अनेक तरह के प्रतीकों की रचना करते हैं। 'साँवला पत्थर', 'साँवली सिवन्ती' (एक लता), 'साँवली हवा'–यानी एक ही साथ वह मूर्त-अमूर्त दोनों के लिए विशेषण है। 'हवा' के लिए कितनी ही बार वे 'वीरान हवा' इस तरह प्रयोग करते हैं। 'साँवले' के लिए वे 'काले' का प्रयोग कभी नहीं करते। उनके लिए 'अँधेरी रात', 'साँवली रात' है, 'काली रात' नहीं। 'काले' का प्रयोग वे भयावहता या डरावनेपन के लिए कहीं-कहीं करते हैं। राम-कृष्ण भी साँवले थे और 1961 के करीब जब उन्होंने अपनी किताब 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति' लिखी और उसमें 'राम-कृष्ण के साँवले रंग के बारे में लिखते हुए यह लिख दिया कि राम-कृष्ण का साँवला होना मिश्रित रक्त-सम्बन्धों के कारण है। इस पर वह किताब जबलपुर हाईकोर्ट के फ़ैसले से ज़ब्त कर ली गई। वह किताब आज तक ज़ब्त है। (अभी हाल ही में मुकदमे की पूरी फ़ाइल के साथ वह पूरी की पूरी प्रकाशित हुई है।) निराला ने 'श्याम' या 'साँवला' शब्द को लेकर एक पूरा गीत ही लिखा है। 'साँवली हवाओं में काल टहलता है' यह मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' शीर्षक से लिखी गई एक कविता-पंक्ति है, जिसका अर्थ है 'इतिहास का धुँधलका'। इतिहास का कोई भी निष्कर्ष अन्तिम नहीं होता। उसकी बार-बार पुनर्व्याख्या होती चलती है। इसी को मुक्तिबोध 'इतिहास का अननुमानित' कहते हैं।

सन् 1950 में मुक्तिबोध रोज़ी-रोटी की खोज में भटकते हुए नागपुर पहुँचे। वहाँ से स्वामी कृष्णानन्द सोख़्ता की मदद और सलाह से उन्होंने एक पत्रिका 'नया ख़ून' का सम्पादन शुरू किया। उस वक्त मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र भी 'सारथी' नामक एक पत्रिका निकालते थे। मुक्तिबोध की सारी राजनीतिक टिप्पणियाँ और आलेख इन्हीं दो पत्रिकाओं में छद्मनाम से छपी हैं। इन टिप्पणियों में वे 'अवन्ती लाल गुप्त' और 'यौगन्धरायण' नाम रखते

थे। उनका सारा राजनीतिक लेखन इन्हीं नामों से छपता था। आश्चर्यजनक यह है कि मुक्तिबोध आज़ादी के बाद की भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों पर ही टीका-टिप्पणी नहीं करते बल्कि समूची विश्व-राज़नीति में घटनेवाली घटनाओं, प्रश्नों और समस्याओं को भी अपनी नज़र में रखते हैं। यहाँ उन बातों को, उनके निष्कर्षों को उठाने का कारण यह नहीं है कि वे सन् '50 और '60 की बीती हुई बातें हैं, बल्कि यह कि उनका यह सारा चिन्तन और उस ज़माने के उनके सारे निष्कर्ष आज प्रतिफलित होते हुए दिखते हैं। कैसे, इन्हीं बातों पर हम यहाँ थोड़ा विचार करेंगे।

जून, 1954 में 'नया ख़ून' की एक टिप्पणी का शीर्षक है 'जिनेवा कॉन्फ्रेंस के नेपथ्य में मृत्यु-संगीत'। इस टिप्पणी में मुक्तिबोध 'इंडो-चाइना-फ्रेंच युद्ध' के बारे में लिखते हुए कहते हैं, 'युद्धवादी अमेरिका युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना चाहता है।' इंग्लैंड, अमेरिका, च्यांग्काइशेक और स्निंग्मन री को मुक्तिबोध 'युद्ध के राक्षस' कहते हैं। वे चाहते हैं कि विश्व-जनमत इन 'राजनीति-शिरोमणियों' को परिषद की मेज़ से उठने न दे। उन्हें इस बात के लिए मजबूर करे कि वे सीधे लेन-देन करें, एक-दूसरे के सामने झुकें और 'विश्व-शान्ति को भंग न होने दें।' 'सारथी' में फिर अपनी इस टिप्पणी को मुक्तिबोध आगे बढ़ाते हैं। इसी पत्रिका में 'मिस्र के विरुद्ध इतना रोष क्यों?' में वे लिखते हैं, 'ब्रिटेन और अमेरिका अब उन देशों में हस्तक्षेप करने लगे हैं जिनकी उन्नति और विकास इन साम्राज्यवादियों के हितों में आड़े आता है।' इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध इ्रान, ग्वाटेमाला और अर्जेंटीना का उदाहरण देते हैं। चाहे जिनेवा परिषद की बात हो या 'गेंहूँ क्यों सस्ता हो रहा है' की बात हो, 'स्वेज नहर' की बात हो या नए-नए आज़ाद हुए देशों की बात हो, उनमें ब्रिटिश-अमेरिकी पूँजी-हितों की बात हो, मुक्तिबोध की नज़र सारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर है। मुक्तिबोध का मानना है कि दुनिया में जहाँ भी, जो कुछ भी आज घटित हो रहा है उसके सूत्र एकदेशीय, क्षेत्रीय नहीं हैं। गेंहूँ के सस्ता होने के कारण इरान, मुसद्दिक सरकार का पिस जाना और उनके समर्थकों को गोली से उड़ा दिया जाना, भारत में पी.एल.-480 के पैसे का जासूसी के लिए उपयोग यानी आज़ादी के बाद की परिस्थितियों पर मुक्तिबोध संकीर्ण राष्ट्रवादी तरीके से कभी नहीं सोचते। उनका अपना 'पक्ष निस्सन्देह' है, लेकिन वह तार्किक, सत्य और गहरे अन्तर्राष्ट्रीय विश्लेषण पर आधारित है। इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध टीटो-मिकोयान की मुलाकात, आस्वान बाँध, अरब समस्या और पूर्वी जर्मनी का सवाल भी उठाते हैं। फ़िलीपीन और जापान में अमेरिकी सैनिक अड्डों का तीव्र विरोध और इंडोनेशिया में 90

अमेरिकी सैनिक अड्डों के बनाने के विरोध में बातें करते हुए वे लिखते हैं, 'आज भले ही अफ्रीकी राष्ट्रवाद का दमन हो चुका हो, वह इतना बड़ा ज्वालामुखी है जो पश्चिमी साम्राज्यवादियों की तानाशाही, रंगभेद नीति और आर्थिक ग़ुलामी को समाप्त करने की ओर प्रवृत्त है। पाश्चात्य देश अपनी सारी भीतरी दरारों के बावजूद, उपनिवेशों के दमन के मामले में एकमत और एकीभूत हैं। उपनिवेशों के राष्ट्रवादी आन्दोलन ही ऐसे हैं जो आपस में गुँथे हुए नहीं हैं।' ऐसे में उनका मानना है कि एफ्रो-एशिआई कॉन्फ्रेंस अफ्रीकी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित करेगी। इस तरह मुक्तिबोध तीसरी दुनिया के हित में अपना विश्वास पश्चिम से नहीं, अपने लोगों के भीतर से देखने की बात करते हैं।

हिन्दुस्तान के बारे में बात करते हुए मुक्तिबोध की जो टिप्पणी है 'अंग्रेज़ गए पर इतनी अंग्रेज़ी पूँजी क्यों' में मुक्तिबोध बहुत सारे आँकड़ों का सहारा लेते हुए आगे आनेवाले देश के आर्थिक हालात का खुलकर विश्लेषण करते हैं। भारत सरकार ने तब (1954 में) एक अंग्रेज़ी-अमेरिकी कम्पनी को 60 करोड़ रुपए की पूँजी से मिट्टी का तेल और पेट्रोल के दो कारख़ाने खोलने की अनुमति और सहूलियतें दी थीं और वचन दिया था कि अगले 25 वर्षों तक इनका राष्ट्रीयकरण नहीं होगा और अगर होगा तो उसका मुआवज़ा दिया जाएगा। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि नेहरू की पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए उस वक्त 100 करोड़ रुपए की विदेशी पूँजी आमंत्रित की गई थी। 'हिन्दुस्तान मोटर्स' बिड़ला + नेफ़ील्ड (ब्रिटेन) की संयुक्त रियासत थी, 'प्रीमियर ऑटोमोबाइल' बालचन्द-हीराचन्द +अमेरिकी क्रिसलर की, 'स्टील कारपोरेशन ऑफ़ बंगाल' पर ब्रिटिश पूँजी (मार्टिन बर्न एंड को.) का एकाधिपत्य था। इस तरह उस वक्त भारतीय व्यापारिक औद्योगिक पूँजी का कुल 44% विदेशी पूँजी का था। ये आँकड़े आज़ादी मिलने के 8 वर्ष बाद के हैं। ब्रिटिश पूँजी में से उस समय 82% डाइरेक्ट इन्वेस्टमेंट के अन्तर्गत आती थी। यानी 253 करोड़ की विदेशी पूँजी निवेश में तब भी 80% प्रत्यक्ष निवेश के अन्तर्गत था। इसका अर्थ यह होता है कि मुनाफ़े और इन्फ्रास्ट्रक्चर दोनों पर विदेशी पूँजी का पूर्ण अधिकार था। इसका यह अर्थ माना जा सकता है कि तभी से आज़ाद हिन्दुस्तान उनके द्वारा तैयार माल के लिए एक बहुत बड़े बाज़ार का रूप ले रहा था। नक्शा तभी से यह था कि बिड़ला-टाटा, जिन्हें नेहरू भारतीय राष्ट्रवादी पूँजीपति समझते थे, विदेशी पूँजी निवेश को भारत के लिए हितकर समझते थे,

जबकि इनकी निबद्धता बिड़ला+ब्रिटेन और टाटा+अमेरिका थी। उस ज़माने में तो नहीं, लेकिन नेहरू और मुक्तिबोध की मृत्यु (1964) के बाद हमारे बीच इन लोगों के लिए एक शब्द चलता था–कम्प्रोदोर (दलाल) पूँजीपति। ज़ाहिर था कि 'राष्ट्रीय पूँजी' नाम की कोई चीज़ नहीं थी। साफ़ है कि ये तथाकथित राष्ट्रीय पूँजीपति भारत को आर्थिक-औद्योगिक उपनिवेश का एक क्षेत्र बनाए रखने में विदेशी पूँजीपतियों की मदद कर रहे थे। मुक्तिबोध को नेहरू की दुहरी औद्योगिक नीति में कुछ ज़्यादा ही यकीन था। इसीलिए इस आलेख के अन्त में वे कहते हैं, 'जब तक हमारे यहाँ पूँजी का राष्ट्रीयकरण नहीं होता और बुनियादी कारखाने नहीं खुलते, तब तक यह कहना कि हम देश की पुनर्रचना कर रहे हैं, बिलकुल असंगत है।'

'समाजवादी समाज-रचना का तब क्या मतलब है? पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सरकारी तत्वावधान में औद्योगिक क्षेत्र का विकास, कि जिससे प्राप्त मुनाफ़ा सरकार द्वारा जन-कल्याणकारी कार्यों में लगाया जाए और देश के अर्थतंत्र पर पूँजीपति का अधिकार न होकर जनता द्वारा चुनी हुई सरकार का क़ब्ज़ा हो। यानी कि इस ढंग से देश का बहुमत अर्थतंत्र पर अधिकार बनाए रखे।'

मुक्तिबोध आज होते तो 'सरकारी तत्वावधान' का क्या अर्थ लेते? उन्हें तब भी इस 'सरकारी तत्वावधान' की दिशा का कुछ-कुछ अनुमान है। 'अनुशासन का भोथरा परशु' शीर्षक 'नया-ख़ून' के सम्पादकीय में वे लिखते हैं, 'एकता टूटती इसलिए है कि 'लूट की एकता' अथवा 'त्याग की एकता' प्राप्त नहीं हो रही है।...(कांग्रेस में) बहुतों ने सन्तगिरी का बाना धार कर बुराई से शिष्ट समझौता कर लिया है।...समाज में बहुत से दबाव-गुट पैदा हो गए हैं।...ये दबाव-गुट स्वयं जनता नहीं है, जनता से बहुत दूर हैं। जब तक कांग्रेस नैतिक रूप से शुद्ध नहीं होती...आदि।' इस सम्पादकीय में मुक्तिबोध कांग्रेस पार्टी (क्योंकि तब तक कांग्रेस पार्टी का ही संसद पर एकच्छत्र अधिकार था) के भीतर-बाहर दबाव-गुटों की बात करते हैं। आज़ादी की लड़ाई के ज़माने में भी वास्तव में भीतर-बाहर के ये दबाव-गुट कार्यरत थे। स्वयं महात्मा गांधी भी इन गुटों के भीतरी-बाहरी दबावों से परेशान थे। बहरहाल, इस आलेख का दूसरा मुख्य पहलू यह है कि मुक्तिबोध का मानना है कि कांग्रेसी नेताओं ने (और अब कम्युनिस्टों को छोड़कर सभी नेताओं ने) 'बुराई से शिष्ट समझौता' कर लिया है। तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात वे यह कहते हैं कि न तो पूरी तरह 'लूट की एकता' बन पा रही है न पूरी तरह 'त्याग की एकता।'

यानी अगर 'लूट की एकता' पूरी तरह बन जाएगी तो सभी एकजुट होकर सिर्फ़ लूटेंगे और फिर 'अनुशासन के इस भोथरे परशु' से किसी का गला काटना सम्भव नहीं होगा। तब कोई और कड़ा कदम उठाना पड़ेगा। और अगर 'त्याग की एकता' स्थापित हो गई तो कोई समस्या ही नहीं होगी। गांधी जी और क्या चाहते थे? इन बातों पर मुक्तिबोध अपना निर्णय कुछ इस प्रकार देते हैं, 'जब तक कांग्रेस (आज कम्युनिस्ट पार्टियों को छोड़कर कोई भी पार्टी) नैतिक रूप से शुद्ध नहीं होती, अनुशासन भंग होता रहेगा।'...आज की स्थिति को देखें। 'त्याग की एकता' का तो कोई सवाल ही नहीं है। 'लूट की एकता' भी अपनी और अपनी पार्टी की लूट की एकता है। एक पार्टी के अन्दर भी तुष्टीकरण की नीति है। जिसको कुछ नहीं मिलता वह अनुशासन भंग कर देता है। 'दल-बदल विधेयक' पारित होने के बावजूद रोज़ दल-बदल होते हैं। सिद्धान्त, विचार और नैतिक शुद्धता का सवाल एक सिरे से ख़ारिज हो गया है। सिवाय कम्युनिस्टों के लगभग सभी भ्रष्ट हैं। भ्रष्ट होने के तरीके और मानदंड अलग हैं। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि जनता के प्रतिनिधि नहीं हैं। जब जयप्रकाश नारायण ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के अपने आन्दोलन के दौरान 'चुने हुए प्रतिनिधि' के भ्रष्ट या नाकारा या माफ़िया, ख़ूनी होने या जनता की आकांक्षाओं पर खरा न उतरने की हालत में उसे वापस लौटाने की शर्त रखी थी तो उनके अनुगामियों ने भी अस्वीकार में हाथ खड़े कर दिए थे।...इन्हीं स्थितियों की आहट अपने तत्कालीन राजनीतिक लेखन में मुक्तिबोध लगातार सुन रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय–दोनों स्तरों पर इतिहास के चरण-कमल किस तरह आशा-निराशा के धुँधलके में, साँवली हवाओं में टहल रहे हैं–इसी को मुक्तिबोध 'इतिहास का अननुमानित' कहते हैं। यही है–अदृश्य-दृश्य, अपरिभाषित, दुर्घटनाग्रस्त। यही है आज़ादी से उनका मोहभंग। अपनी इस बात के लिए मुक्तिबोध नेमिचन्द्र जैन को लिखे एक पत्र में बहुत ही ख़ूबसूरत बिम्ब में पेश करते हैं : 'There are dark rings round the eyes of Hope, the godess, as she has too long masterbated herself.'

उनके इन आलेखों में इसकी भी ध्वनि है। हालाँकि एक जगह वे कहते हैं कि 'अनास्था आस्था की ही पुत्री है।' वे जानते हैं कि उनका भोला और भावुक आशावाद बहुत दूर तक नहीं जाएगा। वे कहते हैं, अगर सचमुच समाजवादी समाज की रचना हो रही है तो 'देश के ग़रीब अधिकाधिक ग़रीब और श्रीमान वर्ग अधिक श्रीमान क्यों होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग

के बीच की दीवार और न फाँदी जानेवाली खाई और बढ़ती जा रही है।'...भूदान आन्दोलन के बावजूद मध्यप्रदेश में तीन सौ तैंतीस ऐसे काश्तकार हैं जिनके पास एक हज़ार एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है।...किसान पहले साहूकारों का क़र्ज़दार था, अब वह सरकार का क़र्ज़दार है।'...असल में देश के खाद्यान्न उत्पादक के रूप में उसकी सत्ता उतनी ही निस्सहाय है, जितनी कि पहले थी। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि पहले उसके जीने की मीयाद कम थी, अब वह बढ़ा दी गई है। इसलिए कि वह अपने जीने का प्रयोग करे और अन्ततः मृत्यु के सामने घुटने टेक दे।' हरित क्रान्ति के बाद उड़ीसा, आन्ध्र, महाराष्ट्र और पंजाब में किसानों की आत्महत्या के आँकड़ों की यह पहली आहट है, जिस पर मुक्तिबोध अपने समय में विचार करते हैं। अपनी एक अप्रकाशित कविता (अब प्रकाशित) में मुक्तिबोध कहते हैं :

साम्राज्यवादियों के पैसों की संस्कृति
भारतीय आकृति में बँधकर
दिल्ली को
वाशिंग्टन व लन्दन का उपनगर
बनाने पर तुली है
भारतीय धनतंत्री
जनतंत्री बुद्धिजीवी
स्वेच्छा से
उसी का कुली है।

दरअसल मुक्तिबोध की कविता, अपने समय की सामाजिक-आर्थिक संरचना के गहरे विश्लेषण, तर्कों और निष्कर्षों, यहाँ तक कि उनकी भविष्यदर्शी दृष्टि के आकलन से पैदा हुई है। अगर देखें तो 1950 से 1960 तक का समय उनका सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ उर्वर समय है। वे एक ही साथ इतिहास, अर्थशास्त्र, देश और दुनिया के वर्तमान और उसके भविष्य, आलोचना, डायरी में प्लेटो सरीखे वाद-विवाद, तर्काश्रित व्याख्याएँ, कथा-उपन्यास और अन्ततः कविता–सभी क्षेत्रों में लगातार सक्रिय हैं। इन सभी का एकत्र प्रतिफलन है काल की वह व्याख्या, जो साँवली हवाओं में चोर की तरह टहल रहा है। आधा छिपा, आधा दिखता उस भविष्य का नक्शा जो हमारे सामने आज है और जिसको पूरी तरह देखने के लिए वह कवि दिन-रात बेकली में है। काल, जो दुनिया की आज़ादी, अर्थव्यवस्था,

राज़नीतिक और सामाजिक संरचना में सेंध लगाने की फ़िराक़ में है, जब आज़ादी के बाद के दूसरे अधिकांश कवि-कथाकार, रचनाकार आज़ादी के एक रोमांसल उल्लास को व्यक्त कर रहे थे, जब उत्तर भारत में विभाजन की त्रासदी लेखकों की एक दूसरी मुख्य विषय-वस्तु थी, जब गाँवों और शहरों के बारे में, मध्यवर्ग के बनने-बिगड़ने के बारे में, खेती-किसानी के बारे में, हरित क्रान्ति के अनुभववाद और उल्लास के बारे में लिखने में अधिकांश कवि-कथाकार लगे हुए थे, जब चारों ओर आज़ादी की धूमधाम थी, जब पहले के कठमुल्ला मार्क्सवाद से छुट्टी पाने और देश और जनता को नई निगाहों से देखने की वक़ालत की जा रही थी, तब मुक्तिबोध इस चोर समय को पकड़ने और आगे आनेवाले समय की खोज और उसकी व्याख्या सिर्फ़ अपने काव्य-बिम्बों या कथा-पात्रों या आलोचना या डायरियों, पत्रों के विवादों द्वारा ही नहीं कर रहे थे, वे देश-विदेश के अर्थतंत्र, उसके विश्व-व्यापी प्रभावों, वर्तमान और भावी संरचना, नेहरू की पंचवर्षीय योजनाओं में छिपी हुई विदेशी पूँजी, राष्ट्रीय पूँजीपतियों का विदेशी पूँजीपतियों के दलाल के रूप में परिवर्तित होने और भारत की वास्तविक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की व्याख्या और उसके ख़तरों की ओर बेलाग इशारा करने में व्यस्त हैं। यानी आज़ादी उल्लास का कारण नहीं है, अपने समकालीनों में सबसे स्पष्ट रूप से और सबसे प्राणघातक रूप में इसे मुक्तिबोध ही देख-समझ रहे हैं और दिखाने की कोशिश कर रहे हैं। इसी संदर्शन का बिम्बात्मक परिणाम है उनकी कविता। कहें, तो कह सकते हैं कि यह कविता आत्म की खोज या आत्म-दर्शन से न निकलकर उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक और उनके आर्थिक-राजनीतिक विश्लेषण के भीतर से निकलकर आती है। सम्भवतः इसीलिए सहृदय समाज से उनका एकान्तीकरण भी हुआ, जिसके लिए वे एक जगह अपनी कविता में कहते हैं :

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।

उनकी कविता केवल शब्द-बिम्ब-अलंकृति पर निर्भर और अमूर्त नहीं है, उसका एक ठोस ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक विश्लेषित आधार है। इसीलिए मुक्तिबोध अपने समय और आगे-पीछे के सभी कवियों से अलग, अपरम्परित, एकान्तिक अकेले-लेकिन सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। उनकी कविता केवल कविता के मानदंडों पर नहीं समझी जा सकती। उनके किसी एक बिम्ब को समझने के लिए इन सारे

विश्लेषणों और सामाजिक, देशीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और ऐतिहासिक उलट-फेरों को जानना-बूझना होगा। वे समग्र भारतीय-मानस और विश्व-मानस के कवि हैं, जिस विश्व के लिए एक जगह वे कहते हैं :

विश्व-चेतस्
बेबनाव।

यानी विश्व-चेतना की बनावट बड़ी ऊबड़-खाबड़ है। उसकी बनावट में सामंजस्य और सन्तुलन नहीं है। वे अपनी कविता या कथा से समाज और इतिहास और पूँजीवादी अर्थतंत्र के दबावों की अभिव्यक्ति तक नहीं पहुँचते, बल्कि इसके ठीक उलट विश्व-इतिहास और विश्व-पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक षड्यंत्रों की चकरघिन्नी में घूमते हुए अपनी अनन्य काव्य-संवेदना तक पहुँचते हैं। साँवली हवाओं के उस धुँधलके को चीरकर भविष्य का वह अनिश्चय अब वर्तमान बन गया है। रुख़ पर से चिल्मन हट गया है। जिसका शंका थी, वह सच हो गया है। विदेशी पूँजी का अर्थ अब वित्तीय पूँजी, आवारा पूँजी है, जो चिल्मन से बाहर है। 'डोमा उस्तादों' का नाच अब सार्वजनीन और सार्वभौमिक हो गया है।

मुक्तिबोध अपने इन्हीं काव्यात्मक सन्देशों को लेकर कहते हैं :

मैं एक थमा हुआ आवेग
रुका हुआ एक ज़बर्दस्त कार्यक्रम
मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय
अनिवार्य
आगे ढकेली गई प्रतीक्षित
महत्त्वपूर्ण तिथि
मैं एक शून्य में छटपटाता उद्देश्य।

कवि का यह 'थमा हुआ आवेग, वह ज़बर्दस्त कार्यक्रम', वह 'स्थगित हुआ अगला अनिवार्य अध्याय', कब पूरा होगा, वह 'आगे ढकेली गई प्रतीक्षित तिथि' कब आएगी?...जब भी आएगी तभी 'शून्य में छटपटाता उद्देश्य'...कवि का वह सपना पूरा होगा।

●

चम्बल की घाटियाँ

ये तीनों कविताएँ–(1) 'एक टीले और डाकू की कहानी' (1960), (2) 'इस चौड़े-ऊँचे टीले पर' (28 खंडों में, लेखन 1959-60, 61, अन्तिम संशोधन 1963), (3) चम्बल की घाटी में (1964)–जैसे एक ही कविता के तीन क्षण हैं। मुक्तिबोध श्योपुर (मुरैना) में पैदा हुए थे। उनकी कविताओं में बुन्देलखंडी आतंककारी बिम्बों के ढेर हैं। सूखी वीरान हवा, धँसानें, कटाव, खड्ड, कँटीले झाड़-झंखाड़, टीले, डाकू, बन्दूक, कारतूस और छर्रे, जलते हुए गाँव, गेरुई ज्वालाओं के प्रसार और धुएँ–इस तरह के अनेक बिम्ब, 'एक टीले और डाकू की कहानी' और 'चम्बल की घाटी में' हैं। ये दोनों कविताएँ वस्तुतः एक ही कविता का विभिन्न प्रारूप हैं, अलग-अलग ड्राफ़्ट। मुक्तिबोध अपनी हर कविता में एक विचार, एक फ्लैश, एक कौंध, एक आइडिया, एक चमकदार बिम्ब या एक घुमड़ते हुए सांगरूपक के इर्द-गिर्द एक सम्पूर्ण कथा-काव्य को पकड़ने और रचने की कोशिश करते हैं। कुछ भी पहले से निश्चित नहीं होता (जैसे किसी भी बड़े कवि का नहीं होता) और फिर आकारों, बिम्बों, प्रतीकों, सांगरूपकों के संग-संग आगे बढ़ती हुई वह बात, वह कौंध, अपना अर्थ, अपनी संगति, अपनी परिणति, अपना समापन ढूँढ़ने लगती है। यही क्रम-सोपान मुक्तिबोध की कविताओं की शिल्प-विधि है। एक घुटन भरी छटपटाहट, परिणति की ओर बढ़ने की एक असहाय-सी, थकी-सी धौंस–यही हैं मुक्तिबोध और उनकी कविताएँ। टीले और डाकू और झाड़-झंखाड़ के बीच 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में आया हुआ एक पुराने बँगले का फ़्लैश मुक्तिबोध को बार-बार उस कविता में आकर्षित करता है। इसका अन्तर्कथ्य दूसरी दो कविताओं से थोड़ा अलग है। वहाँ कवि का 'आत्म' पृथक् है। वह कला के जंगलों, वीरानों से भटककर आया हुआ एक 'जिज्ञासु' है। शायद हर कवि की यही नियति होती है।

मैं जिज्ञासु वृथा हूँ
जाने किस रहस्यमय रक्त-प्रतीक कथा का
अर्थ खोजता ही फिरता हूँ।

'चम्बल की घाटी में' कवि अपनी आत्मा ('जिज्ञासु आत्मान्वेषण') की भटकन को अजन्ता की दीवारों पर उत्कीर्णित बुद्ध से तुलना करता है। जैसे बुद्ध की आकृति ही गुफाओं से निकलकर देश-दर्शन, जीवन-दर्शन और वर्तमान को देखने निकल पड़ती है। अगर इस नज़रिए से देखें तो कविता के अन्त में जो 'दृशद् आत्मन्' (बुद्ध) के कट जाने, टूट जाने का आवाहन है, ऐसे विस्फोट के बारे में बात है जो जग भर में गूँज उठेगा। मुक्तिबोध कहते हैं वह अकेली तुम्हारी कहानी नहीं होगी। बुद्ध रूपी 'दृशद् आत्मन्' का इस कविता में यही विकास है, नवोन्मेष है। मुक्ति अकेले नहीं, सबके साथ, सबकी। क्या बुद्ध भी एक 'वृथा जिज्ञासु' थे जो जीवन की 'रहस्यमय रक्त-प्रतीक कथा' का अर्थ जीवन भर खोजते रहे? क्या कवि उनके निर्वाण की वैयक्तिक उपलब्धि से मुक्ति की सार्वजनिक उपलब्धि को अलग करके देखने का प्रयत्न करता है? मुक्तिबोध परोक्षतः बुद्ध के 'अप्प दीवो भव' का विरोध करते हैं। कितने साध्यों को मुक्तिबोध एक साथ साधते हैं, यह आश्चर्यजनक है। साध्य और लक्ष्य एकोन्मुखी नहीं हैं। उनके अर्थ, उनके संकेतों की सांकेतिक प्रविधि के कारण अनेक दिशाओं में बँटे, छितराए हुए हैं। यही 'हवा में उड़ते हुए' मुक्तिबोध के 'महाकाव्यों के पन्ने' हैं। जैसे आषाढ़ में किसान अपनी मुट्ठी से धरती में चारों ओर बीजों को छींटता, छितराता चलता है। इसीलिए मुक्तिबोध की कविताओं का अन्तर्कथ्य केवल अन्त का सम्पादित समापन ही नहीं, कविता के भीतर भी अनेक अन्तर्कथ्य हैं जो आपको भटकाते हैं। मुक्तिबोध की कविताओं का पाठ करते हुए कभी आप एक सुगम राह पकड़कर नहीं चल सकते। वे हमेशा आपको सम्भ्रमित, लगभग दिग्भ्रमित करते चलते हैं। फ़ैंटेसी उसके मूल में है। उत्कीर्णित, अपाठ्य पुरातन लिपि की तरह उनकी कविताएँ कभी-कभी एक प्राचीन किस्म का आधुनिक आतंक पैदा करती हैं। उनकी भाषा के कठिन आवर्त, घुमाव और अचानक उसका विस्फोटक स्वभाव उन्हें हिन्दी कवियों से अलग एक विचित्र, अनहोने, अविजित कवि की छवि हमारे सामने पेश करते हैं।

कविताओं के इन तीनों ड्राफ़्ट में से दो का साध्य लगभग एक ही है। टीले पर बैठा हुआ डाकू भी अपनी ही गलतियों, अपनी ही 'अनसुनी' का डाकू है। पहली कविता (एक टीले और डाकू कहानी) में वह विषम समाज का प्रतीक भी है। लेकिन वह एकान्तीकृत मध्यवर्गीय चरित्र का, शोषण के पाप का 'विश्वात्मक चेहरा' भी है। आत्मरूप लेकिन विश्वात्मक है। यानी वह एक सार्वजनीन वर्ग शत्रु भी है। वह सामन्ती-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी विश्व का पुराना 'मृतकण' भी है, जो

टीले के भीतर भी छिपा हुआ है और टीले के ऊपर भी जमकर बैठा हुआ है। खेतों-खलिहानों को गेरुई ज्वालाओं से फूँकता, बन्दूकों, कारतूसों से लैस, विरूप लेकिन सन्नद्ध। कवि का यह कथन कि वह उसकी 'अनसुनियों' का भी आत्मरूप है, उसके निर्माण में टीले के रूप में परिणत, यथास्थितिवादी, आत्मोन्मुख, स्वार्थी, व्यक्तिवादी कवि या उस 'स्वचेतन-स्वायत्त अन्धकार रूप' वर्ग-विशेष का भी योगदान है। इसीलिए कवि अपनी जाग्रतावस्था को, ज्ञानात्मक संवेदन को प्राप्त होते ही यह माँग रखता है :

ओ प्रतीक आत्मा के (सूर्य)
मेरे ही चंगुल से
मुझको अब मुक्त करो
चट्टानी सामंजस्य टूट जाएँ
जड़ीभूत संगतियाँ लड़खड़ाएँ
शिलीभूत सन्तुलन बिगड़ जाएँ
अनवस्था तेजस्वी व प्रकांड असन्तुलन
मुझको दो।

इसी बात को वह इस क्रम की अन्तिम और लगभग सम्पूर्ण रूप से सुलझी हुई, ज्यादा स्पष्ट अन्तर्वस्तु वाली कविता 'चम्बल की घाटी में' भी दूसरे ढंग से रखता है। उसी 'अनवस्था' और 'प्रकांड असन्तुलन' की बात :

दुनिया की पाषाणीभूत सतह से
सामंजस्यों के कटघरे में खुद
संगत-बद्ध ही रहने की है ज़िद्
परन्तु सन्तुलनात्मक स्थितियाँ
जैसी की वे हैं
छिः हैं, थूः हैं, हैंः हैं
आदत, आदत, आदत
ख़ुद के बनाए ही सभी शिकंजे
चाहिए मुझको दीप्त अनवस्था।

यही 'अनवस्था' यह 'प्रकांड असन्तुलन' उस 'प्रचण्ड पाषाणी कारा जबर्दस्त' को खंड-खंड करेगा। एक प्रकार से यह यथास्थिति के विरुद्ध एक विशिष्ट और सम्पन्न और जरूरी किस्म की अराजकता और तोड़-फोड़ की माँग है।

एक कविता में दूसरी जगह मुक्तिबोध कहते भी हैं–

'बिना संहार के सर्जन असम्भव है/समन्वय झूठ है।' यहाँ भी पहली कविता में मुक्तिबोध लिखते हैं :

समन्वय सामंजस्य
रूपान्तर क्रिया है यदि
नाश पर आश्रित।

अगर यह संहार नहीं होता, तो सृजन नहीं होता। तब ज्ञान, संवेदन, 'तेजस्कृय मूर्खता, 'परिवर्तन की सम्पूर्ण आकांक्षा' का फलीभूत होना सम्भव नहीं है। तब इस 'शिलीभूत सामंजस्य' (यथास्थितिवाद) की क्या गति है? इसके बारे में कवि के क्या विचार हैं :

सामंजस्य है सूखा शिलीभूत
भूख है दिल में
दिमाग़ को फ़ाक़ा
झूठी है संगति
झूठी हैं बुद्धियाँ
सब आत्मशुद्धियाँ झूठी
साझे हैं खतरनाक
समझौते भयानक, बदरंग ख़ाक़ा।

सवाल यह है कि इस 'प्रकांड असन्तुलन और 'अनवस्था' की माँग क्यों है? परोक्षतः यह क्रान्ति यानी परिवर्तन का प्रारम्भिक रूप है। यथास्थिति को तोड़ने के लिए यह असन्तुलन एक प्रारम्भिक अनिवार्य तत्त्व है। यह तत्वदर्शन है एक प्रकार का। यह विचारों और कार्यों को गतिमान करने की एक प्रारम्भिक माँग है। यह ग़ालिब की तमन्ना का 'पहला कदम' है। पहले तोड़ना होगा, तभी नई इमारत का निर्माण होगा। अगर इसके विरुद्ध तर्क है तो वे ख़तरनाक साझे हैं, भयानक समझौते हैं। यह वैचारिक बदरंगपन और मिलावट है। जिसमें सारी बुद्धियाँ, सारे वैचारिक-विमर्श और सारे आत्मालोचन और आत्मशोध भी झूठे पड़ जाएँगे या असफल हो जाएँगे। निश्चय ही मुक्तिबोध के दिमाग़ में सोवियत रूस के गृहयुद्ध के भीतर मेन्शेविकों और बोल्शेविकों की जंग का इतिहास है। निश्चय ही क्यांग्शी रिपब्लिक में माओत्से तुंग द्वारा कोमितांग और च्यांग काइ शेक के हाथ मिलानेवाले दृश्य और उनके परिणाम घूम रहे होंगे–'साझे हैं खतरनाक, समझौते भयानक।' निश्चय

ही लांग-मार्च की तस्वीर में ऊपर से गोलियों की बौछार और नीचे दलदलों में गुम होते लाल सेना के फौजियों के संहार के दृश्य होंगे। यानी मुक्तिबोध एक कठिन वैचारिक शुद्धता और सख़्ती की वकालत इन कविताओं में करते हैं। लेकिन यह सब कुछ एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की ओर से अपने व्यक्तित्वान्तरण के लिए की गई अपील भी है। अपने आत्मचित्र का विश्लेषण, उसकी भर्त्सना और विवशता के चित्रों के माध्यम से ही 'दृशद् आत्मन्' के विस्फोट की प्रक्रिया तक, उसके सर्व-विलय (या सर्वनाश) की कामना तक मुक्तिबोध पहुँचते हैं। इसीलिए अन्त में और कविता के बीच में भी वह व्यक्तिगत मुक्ति को थोथी और निरर्थक बताते हुए उसे सार्वजनिक मुक्ति से जोड़ते हैं। आज सन् 2000 के बाद हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रों की भी व्यक्तिगत मुक्ति सम्भव नहीं है। 'फ़र्स्ट इंटरनेशनल' का यही तकाज़ा था। क्योंकि साझे और समझौते ख़तरनाक हैं, भयानक हैं। ऐतिहासिक गतिक्रम में उनका ख़तरनाकपन और उनकी भयानकता इस इक्कीसवीं सदी में स्पष्ट हो चुकी है, जहाँ किसी भी देश की सम्प्रभुता तक सुरक्षित नहीं है।

आत्मचित्र

अपनी कविताओं में विचारों के आवेग, उनकी अतिशयता और उनकी विकासात्मक परिणति को मुक्तिबोध अपने (निजी) आत्मचित्रों से सन्तुलित और संवर्द्धित करते हुए उसमें हर बार एक नया रंग भरते चलते हैं। इस रूप में ध्यान से देखें तो मुक्तिबोध आधुनिक योरोपीय चित्रकारों की चित्र-शैली और चित्र-छवियों के अत्यन्त निकट हैं। कविताएँ केवल शब्दों और लयों और विचारों से ही नहीं सधतीं, सिर्फ़ उतने से ही उनका संघटित रूप प्रस्फुटित और पल्लवित नहीं होता–अनेक बिम्बमालाओं के दरअसल कविता में बीच-बीच में चमक कर प्रकट होनेवाले वे आत्मचित्र हैं, जो अन्तर्कथ्य का हिस्सा भी हैं और शिल्प की तराश भी। इस रूप में मुक्तिबोध छायावादियों या अपने समकालीन कवियों से पृथक् नहीं हैं। उनका 'आत्म' ही उनकी कविता का विषय है, जैसे कि निराला या पन्त या महादेवी, बच्चन, अज्ञेय या अन्य अनेक नए कवियों का है। और यह 'आत्म' उतना ही क्षत-विक्षत, उतना ही रोमानी, उतना ही यातनादायी है जितना दूसरे खड़ी बोली के कवियों का। अपने डि-क्लास होने को भी मुक्तिबोध बार-बार प्रश्नाहत करते हैं, अपनी मध्यवर्गीय कमज़ोरियों की कठोर भर्त्सना भी उनके 'आत्मचित्रों' के रंगों और फिर पलटकर पूरी कविता के रंगों को चमकीला, थोड़ा अबूझ, थोड़ा अलग बनाती है। अपने व्यक्तित्वान्तरण की असफल परिणतियों को मुक्तिबोध बार-बार अपनी कविताओं में बड़ी पीड़ा के साथ रेखांकित करते हैं। लेकिन उनकी कविताओं में सहसा चमककर प्रकट होनेवाले ये आत्मचित्र ही हैं जो अन्यत्र इतनी प्रखरता से मिलना दुर्लभ हैं। यही वह 'तेजस्क्रिय कण' हैं जो निपट आत्मकथात्मक होते हुए भी अपने सर्जनात्मक क्षण में सार्वजनीन बन जाते हैं :

मैं एक थमा हुआ मात्र आवेग
रुका हुआ एक ज़बर्दस्त कार्यक्रम
मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय

अनिवार्य
आगे ढकेली गई प्रतीक्षित
महत्त्वपूर्ण तिथि
मैं एक शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य।

रचनावली के प्रथम खंड से लेकर दूसरे खंड और फिर सारी गद्य-कृतियों में भी आत्मचित्रों के ऐसे सघन चित्र मिल जाएँगे। मुक्तिबोध कम्युनिस्ट होते हुए भी 'ललकार' के कवि नहीं हैं, 'ललकार' के भीतर की मजबूरी के कवि हैं। यही वह भविष्यदृष्टि है जो उन्हें और कवियों से अलग करती है। वे बाहर देखते ज़रूर हैं लेकिन आत्मोन्मुख होकर। उनकी नज़र बाहरी दुनिया के तटस्थ काव्यात्मक कथन में नहीं है, बल्कि बाहरी दुनिया के भीतरी टकरावों में है। इसीलिए वे हिन्दी में एक अनोखे किस्म के कवि हैं। उनकी काव्य-वस्तु विविधवर्णी नहीं, बल्कि आदि से अन्त तक लगभग एक ही है, जिसे वे तरह-तरह से बार-बार उकेरने की कोशिश करते हैं। 'कथ्य' में उनकी दुनिया सीमित है लेकिन 'कथन' में विशाल।

❐❐❐

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
शिमला